पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 24 सितम्बर-अक्तूबर 2009

संपादक

भारत भारद्वाज

सह-संपादक

रामजी यादव

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 24 सितम्बर-अक्तूबर 2009

प्रकाशक
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, पंचटीला, वर्धा (महाराष्ट्र) 442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा
पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

यह अंक : 20 रु.
वार्षिक सदस्यता : 120 रु.
दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक 145 रु. और द्वैवार्षिक 265/- मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/डॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय केंद्र, म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

बिक्री और वितरण केन्द्र
प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-26387365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com

संपादकीय संपर्क
क्षेत्रीय केंद्र
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय,
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
टेली-011-41613875
मो.-09313034049 E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VĀRTĀ
A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post Manas Mandir, Panchtila, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण-सज्जा : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय	: हिन्दी आलोचना क हिमालय : आ. रामचंद्र शुक्ल	५
मैं और पुस्तकें	: माँ के संघर्ष से पुस्तकों का महत्व समझा/ निर्मला जैन	७
उपन्यास	: दारा शुकोह/ **मेवाराम** **दारा शुकोह : इतिहास के भीतर-बाहर**/ पंकज राग	१२
उपन्यास	: अंधेरे का ताला/ **ममता कालिया** **कैम्पस के ताले खोलने की कोशिश**/ मीनू मंजरी	१४
उपन्यास	: खंभों पर टिकी खुशबू/ **नरेंद्र नागदेव** **वास्तुशिल्पियों की दुनिया का जादुई यथार्थ**/ पुष्पपाल सिंह	१६
कहानी	: कठपुतलियां/ **मनीषा कुलश्रेष्ठ** **मानवीय संवेदनाओं का मर्मस्पर्शी कोलाज**/ सोमदत्त शर्मा	१८
कहानी	: अंतर्यात्रा/ **कमल कुमार** **स्त्री जीवनानुभवों की कहानियां**/ रेखा एस. यादव	२०
कविता	: कवि ने कहा (कविता शृंखला)/ **लीलाधर जगूड़ी, मंगलेश डबराल, लीलाधर मंडलोई, मदन कश्यप और अनामिका** **हिन्दी कविता आजकल : एक**/ हरदयाल	२२
आलोचना	: आधुनिक कविता और युग-संदर्भ/ **शिव कुमार मिश्र** **युग और कविता की परख**/ ओमप्रकाश सिंह	२६
आलोचना	: आलोचना की सामाजिकता/ **मैनेजर पांडेय** **आलोचना की सामाजिक भूमिका**/ रवि भूषण	२८
जीवनी	: रामचंद्र शुक्ल/ **चंद्रशेखर शुक्ल** **अभी भी इंतजार है आ. रामचंद्र शुक्ल के बॉसवेल का**/ सरयू प्रसाद मिश्र	३३
डायरी	: अकेला मेला/ **रमेशचंद्र शाह** **अंतःप्रक्रियाओं का पुनर्पाठ**/ कृष्णदत्त पालीवाल	३६
संस्मरण	: जो गुजर गया वो वक्त हूँ मैं : मोती, बी.ए./ **इकबाल रिज़वी**	३९
अनुवाद	: अनुवाद विज्ञान की भूमिका/ **कृष्ण कुमार गोस्वामी** **अनुवाद विज्ञान की भूमिका**/ सुरेश कुमार	४३
साहित्य-गंगा	: 'रेवरेंड एडविन ग्रीव्स' से 'उग्र' तक की रचनात्मक विरासत/ **भवदेव पांडेय**	४५
विरासत	: आ. रामचंद्र शुक्ल की 125वीं जयंती पर विशेष	४७-५८
टिप्पणी	: **हिंदी की गोबर-पट्टी में पुस्तक संस्कृति**/ रमेश कुंतल मेघ	५९
साहित्य कोलाहल	: **साहित्य कोलाहल**/ प्रज्ञाचक्षु	६०
समय-जुलाहा	: **कविता की ताकत कठिन संघर्षों से आती है**/ कुबेर दत्त	६३
देशांतर	: समरटाइम/ **जे.एम. कोएट्जी** **खंडित जीवन का कोलाज**/ प्रभात रंजन	६६
आगमन	: पियानो टीचर/ **एल्फ्रीडे येलिनिक** **बंद कमरे में यौनेच्छा का विस्फोट**/ अनंत विजय	६९
फिल्म-वार्ता	: सत्यजित राय : पथेर पांचाली और फिल्म जगत/ **महेंद्र मिश्र** **एक महान फिल्मकार पर जरूरी किताब**/ मुकेश कुमार	७१
प्रतिध्वनि	: पत्र-प्रतिक्रिया	७३

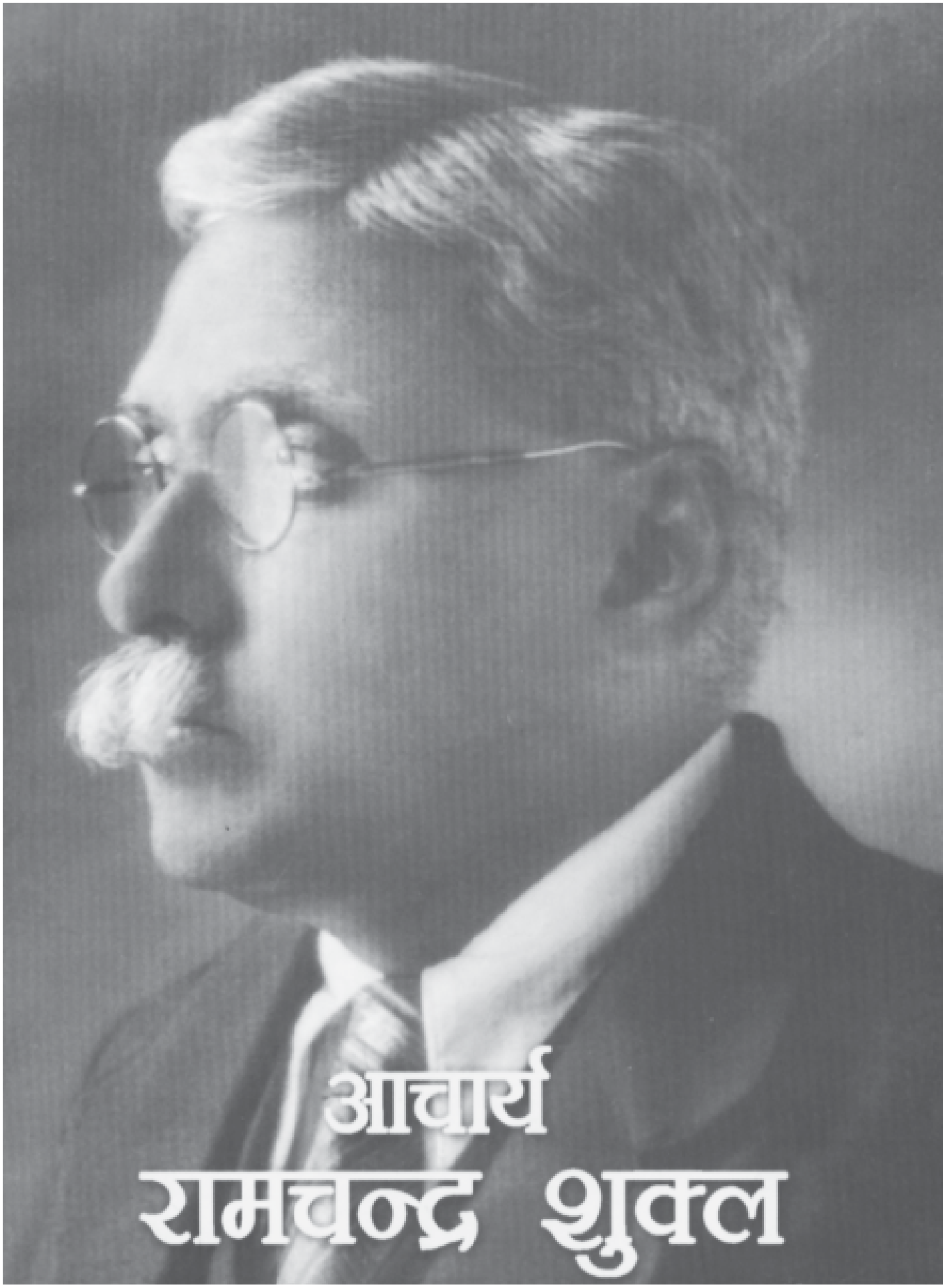
आचार्य
रामचन्द्र शुक्ल

संपादकीय

हिन्दी आलोचना के हिमालय : आ. रामचंद्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना के जनक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह 125वीं जयंती वर्ष है। राष्ट्रीय स्तर पर इसकी शुरूआत साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली की ओर से 4 अगस्त को अकादेमी के सभागार में आयोजित संगोष्ठी से हुई। शुक्लजी प्रेमचन्द से चार वर्ष छोटे थे और जयशंकर प्रसाद उनसे 5 वर्ष छोटे थे। लेकिन निराला से वय में बहुत बड़े थे। बीसवीं शताब्दी का तीसरा और चौथा दशक स्वाधीनता आन्दोलन का सबसे तीखा दौर ही नहीं था, आधुनिक हिन्दी साहित्य के रचनात्मक और आलोचनात्मक उत्कर्षता का भी बड़ा विस्फोटक दौर था। भारतीय राजनीति के क्षितिज पर गाँधी का उदय, 13 अप्रैल 1919 को जलियांवाला जनसंहार, खिलाफत आंदोलन, साइमन कमीशन, 1927 में मद्रास कांग्रेस में जवाहर लाल नेहरू द्वारा प्रस्तावित और सुभाषचंद्र बोस द्वारा समर्थित प्रस्ताव में यह स्पष्ट किया गया कि कांग्रेस का अंतिम लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य या पूरी आजादी है। निश्चित रूप से भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर ये दो दशक स्वाधीनता आंदोलन के निर्णायक मोड़ थे। हिन्दी शब्द सागर के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में शुक्ल जी ने लिखा है 'हिंदी शब्द सागर' समाप्त होने पर उसकी भूमिका के रूप में 'भाषा और साहित्य का विकास' देना भी स्थिर किया गया। इसलिए एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा।' शब्द सागर के प्रकाशन के छह महीने बाद और मिश्रबन्धु विनोद के बाद हिन्दी साहित्य का यह पहला प्रकाशित व्यवस्थित इतिहास था। चौथे दशक में लिखी निराला की लम्बी कविताएँ तुलसीदास, राम की शक्ति पूजा और सरोज स्मृति छपीं। 1936 में जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य कामायनी और प्रेमचंद का महाकाव्यात्मक उपन्यास 'गोदान' निकले। न प्रेमचंद को लम्बी उम्र मिली और न ही शुक्लजी को। मात्र 56 वर्ष की उम्र में वे हमसे विदा हुए। प्रसाद जी को तो और कम उम्र मिली। बेशक, निराला इनके बाद चार-पाँच वर्ष विक्षिप्त जीवित रहे। लेकिन तब तक उनका भी महत्त्वपूर्ण लेखन पूरा हो चुका था।

आचार्य शुक्ल को साहित्य के परिदृश्य पर लाने का श्रेय पं. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को है, जिन्होंने उनके मिरज़ापुर प्रवास के दौरान न केवल साहित्यिक रूप में उन्हें संस्कारित किया, बल्कि उन्हें 'आनन्द कादम्बिनी' का सम्पादक भी बना दिया। 'प्रेमघन' की कृतज्ञता को शुक्लजी कभी नहीं भूले। बल्कि जब प्रेमचन्द ने जनवरी-फरवरी 1932 ई. में 'हंस' का बहुचर्चित आत्मकथा अंक में उनसे अपनी जीवनी लिखने का आग्रह किया तो उन्होंने अपनी आत्मकथा न लिखकर 'प्रेमघन की छाया-स्मृति' (यह लेख इस पत्रिका में अन्यत्र प्रकाशित है) लिखी। शुक्ल जी बाबू श्यामसुन्दरदास के आग्रह पर 'हिन्दी शब्द सागर' के संपादन से अन्त तक जुड़े रहे। महामना मदमोहन मालवीय के सत्प्रयत्न से जब 1919 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई तो शुक्लजी की नियुक्ति वि.वि. के हिन्दी विभाग में पहले हुई। बाबू श्यामसुन्दरदास तो 1921 में हिन्दी विभाग में आए। बाबू साहब और शुक्लजी के सम्बन्ध बहुत दूर तक ठीक-ठाक रहे। बल्कि कहना चाहिए बी.ए. होने के कारण उनका आतंक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (स्थापना 1893) पर ही नहीं था, बल्कि विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग पर भी था। बाबू साहब साहित्यिक जोड़-तोड़ में लगे रहते थे जबकि शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के समर्पित अध्येता ही नहीं, अपने समय में देश-विदेश में लिखे जा रहे साहित्य के प्रति बेहद जागरुक भी थे। मुझे लगता है भारतेन्दु के बाद हिन्दी के सबके जागरुक प्रहरी 'सरस्वती' सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी थे और उसके बाद शुक्लजी। प्रसंगवश, 'हिन्दी शब्द सागर' की प्रस्तावना में 'हिन्दी साहित्य का विकास' (आचार्य शुक्ल) भी था और 'हिन्दी भाषा का विकास' (बाबू श्यामसुन्दर दास) भी। बाबू साहब चाहते थे कि 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य शुक्ल की स्वतन्त्र प्रकाश्य पुस्तक, पर उनका भी नाम जाए, लेकिन शुक्लजी के परिवारीजन अड़ गए और पहली बार शुक्लजी ने अपनी विनम्रता छोड़कर अपने लेखकीय स्वाभिमान की रक्षा की और इस तरह 1929 में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। (इस पुस्तक पर आचार्य शिवपूजन सहाय की समीक्षा इसी अंक में प्रकाशित है)।

आचार्य शुक्ल ने पारिवारिक व्यस्तताओं, आर्थिक परेशानी और विश्वविद्यालयीय दबाव से घिरे रहने के बावजूद जितना लिखा, उसका प्रकाशन उनके जीवनकाल में ठीक से नहीं हो सका। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी (पंजाब संस्करण) आया। लेकिन अधूरा। 'रस मीमांसा' आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने पूरा किया। 'विचार वीथि' अपने प्रथम निबन्ध संग्रह को उन्होंने 1939 में 'चिन्तामणि' के रूप में संकलित किया थ। 'चिन्तामणि' का दूसरा भाग आचार्य शुक्ल के निधन के लगभग चार वर्ष बाद 1945 में निकला पं.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सौजन्य से। 'चिन्तामणि-3' का सम्पादन 1983 में डॉ. नामवर सिंह ने किया। लेकिन 'चिन्तामणि'-4 का सम्पादन जिस तरह 2002 में किया गया, बेहद चिन्ताजनक है।

हिन्दी के 'एकमात्र आचार्य' शुक्ल के साथ एक नहीं, अनेक अपमानजनक हादसे हुए, जो सम्पूर्ण हिन्दी समाज के लिए शर्मनाक है। मुझे कहने दीजिए, आचार्य हिन्दी क्या, संपूर्ण भारतीय भाषाओं में भी अपने समय के सबसे बड़े प्रबुद्ध आलोचक थे। अंग्रेजी लेखन में भी। आई.ए.रिर्चड्स की बात छोड़िए, बाद के अनेक पश्चिमी आलोचकों की तुलना में भी। अपने साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में ही नहीं, अपने समय-समाज और साहित्य की दुनिया में भी। उनके जीवन में उनका जितना छपा, उसके बाद उनका ज्यादा महत्त्वपूर्ण छपा। चाहे वह 'रस मीमांसा' हो या 'चिन्तामणि' के अन्य खंड। यहाँ तक कि उनके भतीजे चन्द्रशेखर शुक्ल ने जब उनकी जीवनी लिखनी शुरू की, अचानक उनकी अप्रत्याशित मृत्यु के कारण यह भी अधूरी रह गई, जिसे पूरा किया विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने। उनकी यह जीवनी 1962 में छपी। हैरानी की बात यह है कि चन्द्रशेखर शुक्ल ने ही नहीं, बाद में उनकी जीवनी के दूसरे लेखक डॉ. राजमल बोरा ने भी अपनी पुस्तक 'चिन्तामणि चिन्तक रामचन्द्र शुक्ल' लिखते समय अंग्रेजी निबन्धकार जॉनसन के जीवनीकार वॉसवेल को ही मानक

बनाया। लेकिन तमाम तथ्यों के संग्रह करने के बावजूद वे लड़खड़ा गए, उसे ठीक से संयोजित नहीं कर सके। शुक्लजी के परिजनों मुक्ता और कुसुम चतुर्वेदी द्वारा लिखित पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' तो बहुत खराब है। इन्हें न ठीक से शुक्ल जी के साहित्य की समझ है और न ही उनके जीवन की। वैसे, डॉ. भवदेव पाण्डेय ने भी अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : आलोचना के नए मानदण्ड' में शुक्ल जी की संक्षिप्त जीवनी दी है लेकिन शुक्ल जी जैसे विराट लेखक के जीवन को समझने और प्रस्तुत करने के लिए जैसा विजन चाहिए, इन जीवनियों में प्रायः नहीं है। अभी भी शुक्ल जी को वॉसवेल का इन्तजार है।

यही नहीं, शुक्ल जी के साथ हुए कई कुसंयोग और दुर्घटनाएँ हैं। मलयज साहित्य अकादेमी के लिए उन पर मोनोग्राफ लिख रहे थे, बीच में ही उनकी मृत्यु हो गई। राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से डॉ. नामवर सिंह के संपादन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली छपने की बात दशकों से चल रही थी लेकिन कॉपीराइट की लड़ाई और रायल्टी की भारी माँग ने शुक्ल जी को साहित्य के परिदृश्य से बेदखल रखा। यह दुखद कहानी है, जिसे दुहराने की जरूरत नहीं। यह तो अच्छा हुआ कि प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली के प्रबन्ध निदेशक हरीश्चन्द्र शर्मा ने तत्परता के साथ डॉ. ओमप्रकाश सिंह के सम्पादन में 2007 में आठ खण्डों में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली' का सम्पादन करके हिन्दी समाज के मुख पर लगी कालिख पोंछ दी। इस ग्रन्थावली में शुक्लजी का अब तक अप्रकाशित अनेक हिन्दी-अंग्रेजी लेख संगृहीत हैं।

आचार्य शुक्ल बेहद संकोची और विनम्र लेखक थे। बेशक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सिरहाने बंदूक रखी रहती थी और आचार्य शुक्ल के पुत्र केशवचन्द्र शुक्ल, जो आजमगढ़ में डिप्टी कलेक्टर थे, के कमरे में भी बन्दूक और राइफल रखी रहती थी, लेकिन शुक्ल जी के कमरे में तो लाठी भी नहीं थी। कभी अपने निवास से विश्वविद्यालय तक तांगे से जाने का सौभाग्य भी उन्हें नहीं मिला। लेकिन उनमें हास्य-व्यंग्य-विनोद प्रबल था। और आत्म-प्रचार और आत्म-मुग्धता से बहुत दूर थे। अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उन्होंने तीन बार बहुत संकोच के साथ अपना उल्लेख किया है।

पहली बार 'आधुनिककाल में गद्य साहित्य का प्रसार : छोटी कहानियाँ' के अन्तर्गत टिप्पणी की ''कहानियों का आरम्भ कहाँ से मानना चाहिए, यह देखने के लिए 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्षक्रम से नीचे दिए जाते हैं

इन्दुमती (किशोरी लाल गोस्वामी) सं. १९५७
गुलबहार (किशोरी लाल गोस्वामी) सं. १९५९
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवानदास, मिरजापुर) सं. १९५९
ग्याहर वर्ष का समय (रामचन्द्र शुक्ल) सं. १९६०
पंडित और पंडितानी (गिरिराजदत्त वाजपेयी) सं. १९६०
दुलाई वाली (बंग महिला) सं. १९६४

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाई वाली'। यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय' फिर 'दुलाई वाली' का नम्बर आता है।'' (इतिहास का 18वां संशोधित, और प्रवर्धित संस्करण, 1977 (पृ. 343-44))

दूसरी बार शुक्ल जी ने 'आधुनिक काल गद्य की वर्तमान गति : समालोचना' और 'काव्य मीमांसा' के अन्तर्गत टिप्पणी की : ''इस इतिहास के लेखक ने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं जिनमें से प्रथम 'गोस्वामी तुलसीदास' के नाम से पुस्तकाकार छपी है, शेष दो क्रमशः 'भ्रमरगीतसार' और 'जायसी ग्रन्थावली' में सम्मिलित हैं।'' (पृ. सं. 382, वही)

तीसरी बार शुक्ल जी ने 'आधुनिककाल काव्यखण्ड : नई धारा : तृतीय उत्थान' के अन्तर्गत टिप्पणी की : ''सर्गबद्ध प्रबन्धकाव्यों में हमारा 'बुद्धचरित' (एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद सं.) संवत् 1979 में प्रकाशित हुआ, जिसमें भगवान बुद्ध का लोकपावन चरित उसी परम्परागत काव्य भाषा में वर्णित है जिसमें राम, कृष्ण की लीला का अब भी घर-घर गान होता है।'' (पृ.सं. 447, वही)

आपने देख लिया? यदि शुक्ल जी कहानी, समालोचना और अनुवाद में अपने लेखन का उल्लेख नहीं करते तो 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' असन्तुलित हो जाता, वैसे मैं 'उलाड़' शब्द को यहाँ ज्यादा उपयुक्त समझता हूँ। शुक्लजी अपने समय के ही नहीं, बल्कि हमारे समय के भी बेहद सावधान आलोचक थे। इसका एक बड़ा उदाहरण यह है कि उन्हें 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला' पर लिखी पं. जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक की जानकारी थी और इस पुस्तक का उल्लेख उन्होंने 'इतिहास' के पृ.सं. 382 पर किया है, जबकि डॉ. रामविलास शर्मा को 1941 में प्रकाशित अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'प्रेमचन्द' तक इस पुस्तक की जानकारी नहीं थी। वैसे डॉ. शर्मा ने 53 वर्षों बाद राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली से इस पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में अपनी 'भूल-गलती' सुधारते हुए 'इसे' (द्विज जी की पुस्तक) प्रेमचन्द पर पहली प्रगतिशील आलोचना पुस्तक' शीर्षक से एक लम्बी भूमिका लिखी है।

अन्त में, 1937 में बाबू साहब ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण किया। विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष पद की नियुक्ति होनी थी। राय बहादुर श्यामसुन्दर दास के उकसाने पर डॉ. पीताम्बर दत्त वर्थवाल ने इस पद के लिए आवेदन दिया। इंटरव्यू बोर्ड में खुद महामना मदन मोहन मालवीय थे। इस इंटरव्यू बोर्ड के अन्य सदस्यों ने डॉ. वर्थवाल की योग्यता की चर्चा करते हुए कहा कि ये तो डॉक्टर हैं, इनके सामने शुक्ल जी की क्या योग्यता है? मालवीय जी ने जोर से कहा 'ही मे बी डॉक्टर, बट शुक्ल इज दि मेकर ऑफ दि डॉक्टर। इन्टरव्यू समाप्त हुआ। और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की नियुक्ति हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर पद पर हो गई।

यदि शुक्लजी और कुछ न लिखकर सिर्फ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही लिखते, तो भी वे हिन्दी साहित्य में अमर होते। हिन्दी साहित्य का एक ऐसा ढांचा उन्होंने तैयार किया, जिसे उनके बाद 'इतिहास' लिखनेवाले तथाकथित साहित्येतिहासकार अस्सी वर्षों बाद भी हिला-डुला नहीं सके।

पत्रिका के इस अंक से सह-संपादक के रूप में रामजी यादव जुड़ रहे हैं। हम उनका स्वागत करते हैं।

इस बीच कथाकार निरुपमा सेवती, कवि-गीतकार हरीश भादानी, उर्दू आलोचक महमूद हाशमी और कवि रमेश कौशिक, विज्ञान लेखक गुणाकर मुले और प्रखर विदुषी मीनाक्षी मुखर्जी हमसे बिछुड़े। इनके प्रति हमारी हार्दिक विनम्र श्रद्धांजलियाँ।

मैं और पुस्तकें

माँ के संघर्ष से पुस्तकों का महत्व समझा

निर्मला जैन

उन खुशनसीबों में नहीं हूँ जो यह दावा कर सकते हैं कि उन्हें पुस्तकें जन्मघुट्टी में घोल कर पिला दी गई थी। पारिवारिक परिस्थितियाँ, राजधानी का सामाजिक वातावरण, उसमें भी लड़कियों की स्थिति, सब मिलाकर मध्यवर्ग के परिवारों का नक्शा कुछ ऐसा बनता था कि लड़कियों के लिए इतनी भर शिक्षा काफी है जिससे उनके शादी-ब्याह में कुछ सुविधा हो जाए। उनके लिए उच्च शिक्षा या नौकरी की कोई विशेष प्रासंगिकता नहीं समझी जाती थी। इसके बावजूद यदि कोई लड़की अपनी रुचि से कुछ पढ़-लिख ले तो वाह, वाह। यदि नहीं, तो कोई बात नहीं।

निर्मला जैन

ऐसे माहौल में पुस्तकों से आरम्भिक परिचय स्कूल में निर्धारित पाठ्यक्रम के अलावा उन पुस्तकों के माध्यम से हुआ जो पुस्तकालय के लिए नियत घण्टे में, बिना किसी मार्गदर्शन के, सहज बुद्धि से सुलभ हो जाती थीं। बात सातवीं-आठवीं कक्षा की है। निश्चित कारण अब याद नहीं। बस इतना याद है कि हिन्दी में अनूदित पूरा शरत-साहित्य बड़ी तन्मयता से पढ़ डाला था–महान साहित्यिक रचनाएँ समझकर नहीं, बंगाली समाज में स्त्रियों की भूमिका और दशा की भावविगलित करने वाली मर्मस्पर्शी कहानियों के रूप में। प्रेमचन्द की भी कुछ कहानियाँ पढ़ी थीं, पर प्रभाव शरत का ही था। स्कूल में शिक्षा का माध्यम तो अंग्रेजी था ही, भाषाओं के बीच भी अंग्रेजी का दर्जा पटरानी का था। भारतीय भाषाएँ 'वर्नाक्यूलर्ज' के खाते में पड़ी रहती थीं। अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़ना, पढ़ने से ज्यादा पढ़ने का दिखावा करना, शान की बात समझी जाती थी। उस हीनता ग्रन्थि के कारण जिससे आज भी हिन्दी-मानस ग्रस्त है। उच्च कोटि की बौद्धिकता या आधुनिक समझ का दिखावा जैसे आज भी विदेशी लेखकों का हवाला दिए बिना पूरा नहीं होता। भले ही वास्तविक ज्ञान मात्र नामों तक सीमित हो। पर अंग्रेजी जितनी कमजोर, 'नेम ड्रॉपिंग' पर उतना ही अधिक इसरार।

उस दौर में तो प्रतिष्ठित स्कूलों में विद्यार्थियों को अंग्रेजी में बातचीत करने के लिए और अंग्रेजी की किताबें पढ़ने के लिए लगभग बाध्य किया जाता था। शायद उसी दबाव के कारण सरल गद्य में रूपान्तरित शेक्सपियर के नाटकों से परिचय हो गया। हमने 'टेम्पेस्ट', 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम', 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' और 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' को अच्छे-बुरे लोगों की कहानियों के रूप में पढ़ा। उनके प्रेम और साहसिकता की, कमीनगी और निर्ममता की, दुरभिसंधियों की, हंसोड़पन की यानी कुल मिलाकर मानवीय प्रकृति और आचरण से पैदा होने वाली घटनाओं और परिस्थितियों की कथाओं के रूप में। वे एक साथ विगलित और चकित करती थीं। उस दौर में न तो 'मैकबेथ', 'हेमलेट', 'जूलियस सीज र' जैसे ट्रैजिक विजन वाले नाटकों से हमारा परिचय था, न अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर के महत्त्व की जानकारी थी।

किताबों का एक गुमनाम स्रोत और था। बहुसंख्यक सदस्यों के भरे-पूरे परिवार में तरह-तरह की रहस्य-रोमांच भरी काम-कथाएँ और जासूसी उपन्यास किसी बिगड़ैल व्यक्ति की असावधानी से हाथ लग जाती थीं। जिसकी किताब होती, उसके शोर मचाने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। रहस्य-रोमांच से भरी उन अजब बेतुकी, वाहियात-सी पुस्तकों को चोरी-चोरी पढ़ने में बहुत सारी अविश्वसनीयता और अतार्किकता के बावजूद रस आता था। किस्से-कहानियों के इन स्रोतों के अलावा परिवार से जुड़ा एक वाचिक स्रोत भी था। मध्यप्रदेश में ग्वालियर के पास के इलाके भिंड के एक निवासी, हमारी दुकान के कर्मचारी थे पं. झम्मन लाल। हातिमताई से लेकर डाकू मानसिंह तक के न जाने कितने किस्से उन्हें कंठस्थ थे। लगभग रोज शाम को बच्चों की टोली को श्रोता बनाकर इन किस्सों का वाचन होता–लोकश्रुति और मिथकों के साथ यथार्थ और कल्पना का घोल बनाकर वे ऐसा बयान करते कि श्रोता मुग्ध, अवाक्। अब लगता है, कि यदि मैं अब भी सारी उत्तर-आधुनिक फिकरेबाजी, गहन बौद्धिक मुद्राओं और भाषिक प्रयोगों के बावजूद कथा साहित्य में कथानक और पात्रों के महत्त्व को पूरी तरह खारिज नहीं कर पाती तो इसमें बचपन से युवावस्था तक इस पढ़े-सुने संस्कार की ही भूमिका है।

पुस्तकों के साथ पन्द्रह-सोलह वर्ष की उम्र तक, योजनामुक्त तदर्थ किस्म का रिश्ता था। जो हाथ लगता, वही पढ़ डालते। वह भी शायद इसलिए कि पिता का स्वर्गवास तो तभी हो गया जब उम्र नौ साल की थी मेरी माँ, उनकी तीसरी पत्नी, संयुक्त परिवार की ज्यादतियों तले पिसती, जैसे-तैसे छोटे-छोटे चार बच्चों का पालन-पोषण करते हुए बराबर दुहराया करतीं : ''अगर हम पढ़े-लिखे होते तो कोई हमारे साथ ऐसा थोड़ी कर सकता था।'' हमने उनके संघर्ष के माध्यम से यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन में पुस्तकों और पढ़ाई का बहुत महत्त्व है। पर उस दौर में मूल्यवान लगती थी विज्ञान और समाज-विज्ञान से सम्बद्ध विषयों की पढ़ाई, जो मुख्य रूप से ज्ञानवर्द्धन और जानकारी का स्रोत थी–उपयोगिता की दृष्टि से।

मेरी गाड़ी अर्थशास्त्र से पटरी बदलकर साहित्य की दिशा में कैसे घूम गई, वह विस्तार यहाँ अप्रासंगिक है। काम की बात इतनी ही है कि परिस्थितिवश जब एक बार साहित्य की दुनिया में प्रवेश कर लिया तो न इसका पछतावा हुआ, न वापसी की बात मन में आई। कॉलेज के जीवन में (1947-56 तक) जिसमें चार वर्षों का अन्तराल भी शामिल है, पढ़ाई सिर्फ परीक्षा को केन्द्र मानकर नहीं हुई। पर उस समय भी पहुँच के भीतर उतना ही था जितना कॉलेज के पुस्तकालय में मिल जाता था या पत्रिकाओं के माध्यम से सुलभ होता था। दूसरे स्रोतों से सामग्री उपलब्ध करना लड़कियों के लिए उन वर्षों में (1946-50) सम्भव नहीं था। कॉलेज तक आना-जाना भी कॉलेज की बस से या अपने घर की सवारी से होता था। स्नातक स्तर तक कॉलेज का वातावरण भी ऐसा नहीं था जिसमें पाठ्यक्रम से बाहर पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाता हो या नई साहित्यिक प्रवृत्तियों से परिचित कराने की दिशा में कोई प्रयास किया जाता हो। पर अपनी रुचि से हम तब भी कविता पुस्तकों में कम, किस्से-कहानियों में ज्यादा रुचि लेते थे। प्रेमचन्द की यथार्थवादी रचनाओं में 'सेवासदन', 'गबन', 'निर्मला' जैसे अपेक्षाकृत छोटे उपन्यास तो पढ़ ही डाले और उनके साथ ही जैनेन्द्र जी की रचनाओं के प्रति एक खास किस्म का आकर्षण मन में पैदा हो गया था। यद्यपि पाठ्यक्रम में, उनके उपन्यासों को नहीं, सिर्फ एकाध कहानी को जगह मिली थी। समझ में बस इतना ही आता था कि दोनों अलग ढंग के लेखक हैं। एक बात दोनों में समान लगती थी–ऐसे कथानकों का चुनाव, जो समाज और परिवार में स्त्री-जीवन के विभिन्न रूपों, समस्याओं और संघर्ष को सामने लाते हैं। दोनों की शैली का अन्तर दिखाई तो पड़ता था, परन्तु उसकी बारीकियों को समझने और उनका विश्लेषण करने का विवेक तब तक हम अर्जित नहीं कर पाए थे। पुस्तकों के समानान्तर हमारी रुचि लोकप्रिय पत्रिकाओं में विशेष रूप से थी। इनमें मुझे जो दो पत्रिकाएँ विशेष स्मरण हैं–'माया' और 'सरिता'। 'माया' की कहानियाँ और हिन्दू धर्म के रूढ़िवादी रूप पर 'सरिता' में प्रकाशित ध्वंसात्मक लेखों का सिलसिला बहुत रुचिकर लगता था। इनके अलावा अंग्रेजी की पत्रिका 'केरेवान' का भी बड़ी बेसब्री से इन्तजार रहता था। खास बात यह थी कि उस समय पत्रिकाओं की वैसी भरमार नहीं थी, जैसी आज दिखाई देती है। इसलिए चुनाव के विकल्प भी बहुत नहीं थे।

'मनोहर कहानियाँ' जैसे मासिकों तथा 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' जैसे साप्ताहिकों का दौर बाद की बात है और खबरी साप्ताहिक 'दिनमान' का समय कुछ और बाद का। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन तमाम पत्रिकाओं ने भी पढ़ने की रुचि में बेहद इजाफा किया। पर पुस्तकें रोजमर्रा की जिन्दगी में अनिवार्य जरूरत की तरह घर कर लें यह तो धीरे-धीरे (1955 के आसपास) घटित हुआ। पारिवारिक स्थितियों के कारण चार वर्ष तक (1950-54) किताबों की दुनिया से लगभग एक झटके से सम्बन्ध टूट गया। वापसी एक बार फिर शैक्षिक माध्यम से ही हुई, जब इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में

नियमित रूप से पढ़कर 1956 में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा दी, और तत्काल लेडी श्रीराम कॉलेज के हिन्दी विभाग में मेरी नियुक्ति हो गई। कॉलेज उसी साल खुला था। स्वभावतः मैंने पैर रखते ही अध्यक्ष का भार सम्भाला, जो चौदह वर्ष तक कायम रहा। (उस समय इन पदों पर 'रोटेशन' नहीं होता था)। आरम्भ करते ही पुस्तकालय निर्माण का दायित्व। अतः चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें और बीच में हम। एक दो वर्ष के भीतर ही लगभग हिन्दी के समूचे साहित्य की परिक्रमा कर ली। एम.ए. जिन डॉ. नगेन्द्र की विभागाध्यक्षता के दौरान किया था, उसमें नजर कुछ ऐसी बनी थी कि प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद कथा-साहित्य का और छायावाद के बाद कविता का उत्कर्ष काल उतार पर था। यानी परवर्ती रचनाकार 'इत्यादि' की कोटि में आते थे।

यदि पुस्तकों की खरीद का मसला न होता तो हो सकता है कुछ वर्ष जड़ीभूत साहित्याभिरुचि का शिकार रहते। आलोचक त्रयी (नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र) तो हमारे जीवित संसार का हिस्सा थी। वे लोग इतिहास नहीं वर्तमान थे। प्रगतिशील साहित्य और साहित्य को एक सीमा से ज्यादा महत्त्व देना जरूरी नहीं समझते थे। तब तक रामविलास शर्मा का विशेष दबदबा नहीं था। संस्कार कुछ ऐसा बन गया था कि तब भी रोमानी से तेवर की कृतियाँ अच्छी लगती थीं। जैसे 'गुनाहों का देवता' या 'चित्रलेखा' या फिर 'दुखवा

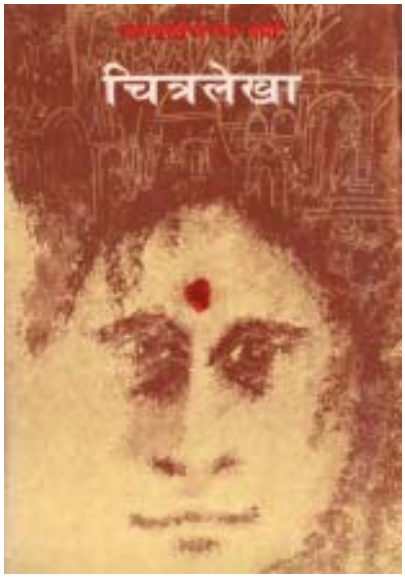

मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' जैसी कहानियाँ। अलबत्ता कहानियों में 'उसने कहा था', तब भी सबसे अलग, विशिष्ट और पसन्दीदा थी।

किताबें, पत्रिकाएँ, सब अनजाने ही साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण करती रहीं, और पढ़ना दिनचर्या का अनिवार्य अंग होता चला गया, लगभग लत की तरह। आलोचनात्मक पुस्तकें विशेष रूप से वही पढ़ी जाती थीं, जो पढ़ाने के लिए काम में आती थीं।

यह विडम्बना ही कही जाएगी कि आधुनिक बोध-सम्पन्न साहित्य से कायदे से परिचय अपने पहले शोध-कार्य के सिलसिले में हुआ। विषय था 'आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप-विधाएँ'–नतीजा यह हुआ कि छायावादोत्तर और उत्तर छायावादी कविता से आगे बढ़कर पूरा नई-कविता का आंदोलन अध्ययन के घेरे में आ गया। साथ ही प्रगतिशील कविता भी। कथा-साहित्य में रुचि पहले से ही थी। यह यथावत बनी रहीं।

उन दिनों शोध करना, लोहे के चने चबाने से कम नहीं होता था। विषय पर पूर्व-प्रकाशित चार-छः पुस्तकों के आधार पर आनन-फानन में शोध-प्रबन्ध कर लेने की पद्धति प्रचलित नहीं थी। क्योंकि शोध ऐसी डिग्री भर नहीं होता था जिसको जैसे-तैसे हासिल कर लेना नौकरी के लिए जरूरी हो। अधिकांश शोधार्थी बड़ी निष्ठा और परिश्रम से विषय का अध्ययन करके प्रबन्ध तैयार करते थे। सारा बल कुछ मौलिक खोजने या कहने पर रहता था। अतः उसी सिलसिले में जब मुक्तिबोध, शमशेर जैसे कवियों से साबका पड़ा तो एक बार बुद्धि चकरा गई। सचाई तो यह थी कि अनेक स्वनामधन्य रचनाकारों और आलोचकों को भी तब तक इनके योगदान का समुचित बोध नहीं हुआ था। वह दशक अज्ञेय और उनके समानधर्माओं की वाहवाही का दशक था। हो सकता है आज तमाम सुधी जन इसे स्वीकार करने से कतराएँ, पर वास्तविक स्थिति यही थी।

छठे से सातवें दशक के बीच तक पहले दो सप्तकों के कवियों की लगभग सभी उपलब्ध पुस्तकें पढ़ीं, गुनीं और छायावादी साहित्य की रोमानियत के बाद आने वाले परिवर्तन को लक्ष्य किया। नए कवियों के अलावा उत्तर छायावाद के कुछ कवियों की पुस्तकों को पढ़ने के बजाय सुनना ज्यादा अच्छा लगता था। बच्चन, दिनकर, शिवमंगल सिंह सुमन और एक हद तक नरेन्द्र शर्मा इनमें शामिल थे। बाद में भवानी भाई भी इस सूची में जुड़ गए। एक बात और याद करने लायक है। हम लोगों को मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर की 'साकेत', 'यशोधरा', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'परशुराम की प्रतीक्षा'

जैसी तमाम पुस्तकें अप्रासंगिक यानी गुजरे जमाने की रचनाएँ नहीं लगती थीं। मुझे दिनकर की पुस्तक 'शुद्ध कविता की खोज' भी बहुत से आयातित विचारों के बावजूद काफी विचारणीय लगी थी। वैसे ही जैसे 'संस्कृति के चार अध्याय' दूसरे कारण से

महत्त्वपूर्ण लगती थी।

महिला रचनाकारों में नई कहानी की पुरुष त्रयी के समानान्तर कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा और मन्नू भण्डारी की रचनाएँ सामने आने लगीं थीं। तीनों में कृष्णा जी सबसे वरिष्ठ थीं, और रचना कर्म, वेशभूषा और व्यक्तित्व में बाकी दोनों से कुछ अलग-थलग और विशिष्ट भी। मेरे मन पर उनका आतंक और उनके प्रति सम्मान का मिला-जुला भाव था। उषा पहले दिन से ही लेडी श्रीराम में मेरी सहयोगी थीं। नतीजतन उनकी स्थिति घर की मुर्गी दाल बराबर वाली हो गई। पहली बार उनके महत्त्व पर ध्यान तब गया जब उनकी कहानी 'वापसी' की चर्चा हुई और दूसरी बार तब, जब उन्होंने 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' उपन्यास लिखा और पाठकों

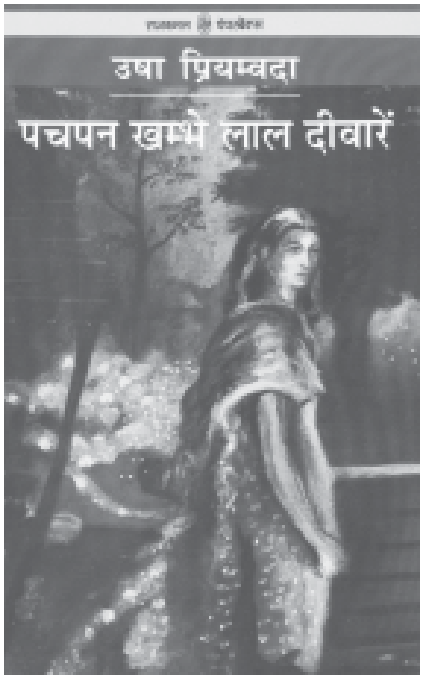

ने हमसे उसमें आए पात्रों की पहचान करानी चाही। गोकि सच्चाई यह है कि दीवारों और खम्भों के अलावा, उसमें कॉलेज का कोई व्यक्ति निखालिस रूप में मौजूद नहीं है। समझाना कठिन था कि यथार्थ और रचना के बीच 'वन टू वन' वाला सम्बन्ध नहीं होता। लेखक रचनात्मक हस्तक्षेप से वास्तविकता का अपने कथ्य के अनुसार कायाकल्प करता है।

मन्नू से भी दिल्ली में आने के कुछ ही दिनों के भीतर परिचय और गाढ़ी मित्रता हो गई। इसलिए उनकी भी आरम्भिक कहानियों के प्रति अजब कैजुअल-सा रुख रहता था। ढंग से कद्र तब जानी जब 'आपका बंटी' प्रकाशित हुआ और उससे भी ज्यादा तब, जब 'महाभोज' सामने आया।

उषा तब तक अमरीका पहुँच गई थीं, और उनकी रचनाओं में वहाँ के जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति बहुतायत से होने लगी थी। उनके पिछले दो उपन्यासों–'अन्तर्वंशी' और 'भया कबीर उदास' का फलक अपेक्षाकृत व्यापक होने पर भी मुझे लगता है लम्बे समय से अमरीका प्रवास ने उनके लेखन को ठेठ प्रवासी अनुभवों और मानसिक प्रतिक्रियाओं तक सीमित कर दिया है।

सबसे विस्तृत फलक और विजन सोबती जी का था। उनसे भी समय के साथ आदर मिश्रित मित्रता का रिश्ता कायम हो गया था। फिर भी मैंने उनकी रचनाओं को बराबर एक खास किस्म की दूरी से, बाहरी व्यक्ति की तरह पढ़ा। ऐसा हो पाया इसकी वजह हमारे सम्बन्धों की प्रकृति नहीं, बल्कि शायद यह है कि कृष्णा जी अपने अन्तरंग अनुभवों को भी उनसे संलग्न नहीं विलग होकर पृष्ठों पर उतारती हैं। पाठक बहुत से बहुत उनके द्रष्टा को उसमें पा सकता है। भोक्ता और रचयिता के बीच अपेक्षित अन्तराल बनाए रखना उनकी रचनाओं की खूबी है। बावजूद इसके कि उनके 'मित्रो मरजानी', 'दिलो दानिश', 'सूरजमुखी अन्धेरे के', जैसे उपन्यास और कई कहानियाँ स्त्री-जीवन पर केन्द्रित हैं। यहाँ तक कि उनकी क्लासिक रचना 'जिन्दगीनामा' में आए स्त्री-पात्रों पर भी यह बात लागू होती है। फिलवक्त बात इतनी ही है कि उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति 'जिन्दगीनामा' ने भी अपने मूलवर्ती सरोकार की दृष्टि से मुझ पर गहरी छाप छोड़ी थी। उसकी भाषा के आलोचकों की समझ में यह बात अन्त तक नहीं आई कि उसकी शब्द-योजना पर पछाँह के प्रभाव को लेकर होने वाली कठिनाई वैसी ही थी, जैसी कुछ वर्ष पहले प्रकाशित रेणु के 'मैला आंचल' की आंचलिकता के कारण बहुत से पाठकों के सामने आई थी।

ईमानदारी से याद करने पर लगता है कि पुस्तकों में मेरी गहरी रुचि शैक्षिक वातावरण या दायित्वों से उतनी नहीं पैदा हुई और बढ़ी जितनी साहित्यिक मित्रों के सत्संग से। यह सिलसिला 1964 के आसपास आरम्भ हुआ था। मैंने हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दिल्ली शहर दर शहर' में इस पर विस्तार से लिखा है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कि मित्रों की यह बैठकी यथासम्भव रोज नहीं तो कम-से-कम सप्ताह में चार-पाँच बार जरूर होती थी। भौगोलिक निकटता के कारण ऐसा सहज सम्भव था। इसका सबसे बड़ा लाभ यह था कि हर नई महत्त्वपूर्ण पुस्तक की सूचना, उस पर चर्चा, साहित्यिक गतिविधियों की जानकारी, प्रशंसा-निन्दा के माध्यम से हम सब बाखबर रहते थे।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सब अपनी-अपनी राय रखते थे। कोई किसी के दबाव में नहीं। अक्सर मतभेद के कारण बहसों में खासी गरमा-गरमी पैदा हो जाती थी, पर दुर्भाव किसी के मन में पैदा नहीं होता था। उस दौर में हर महत्त्वपूर्ण पुस्तक के प्रकाशित होते ही हमें उसकी खबर लग जाती थी। नामवर जी तो चलता-फिरता पुस्तकालय थे ही। राजेन्द्र यादव भी किसी बन्दिश वाली नौकरी के अधीन नहीं, अपने मन के मालिक थे। एक नम्बर के पढ़ाकू। उनके साथ तमाम मतभेदों के बावजूद लम्बी दोस्ती निभने का यही कारण है। अजित कुमार, भारत भूषण अग्रवाल, मन्नू भण्डारी के अलावा भी मित्रों में तमाम लोग ऐसे थे जिनकी रुचि का केन्द्र पुस्तकें थीं।

सर्जनात्मक साहित्य के अलावा अपने

शोध-कार्य (रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र) के सिलसिले में मैंने संस्कृत काव्यशास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र पर उपलब्ध तमाम पुस्तकों का अध्ययन किया। इन पुस्तकों की लम्बी सूची मेरे उक्त विषय पर प्रकाशित शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट में दर्ज है। दिलचस्प बात यह थी कि लगातार पढ़ते-पढ़ते शास्त्रीय गुत्थियों को समझने और सुलझाने में एक खास किस्म का बौद्धिक पारितोष मिलता था। मुझे न कभी इन पुस्तकों से ऊब हुई न उलझन। आश्चर्य इस बात का था कि शास्त्रीय गुत्थियाँ सुलझाने में अपने ढंग से मित्र मण्डली भी बड़े विचारोत्तेजक ढंग से हिस्सेदारी करती थी।

इस वातावरण का नतीजा यह हुआ कि मैंने पुस्तकों के बारे में कभी किसी दबाव में राय नहीं बनाई। यह बात कई ऐसी पुस्तकों के बारे में सच है कि जिन्हें लेकर बहसें हुईं। ऐसे पुराने प्रसंगों में 'लोकायतन' और 'उर्वशी' प्रकरण याद है। अपेक्षाकृत बाद की कृतियों में 'जिन्दगीनामा', 'ऐ लड़की', 'नौकर की कमीज', 'दीवार में खिड़की रहती थी', 'अल्मा कबूतरी', 'अन्या से अनन्या तक', 'समय सरगम', 'तत्सम', 'हमारा शहर उस बरस', 'तिरहुत' जैसी तमाम रचनाओं के बारे में मेरी निजी राय बहुतों से मेल नहीं खाती।

मुझे इस बात से भी बड़ी असुविधा होती है जब कुछ स्वनामधन्य गोल बनाकर किसी रचना को उछालते या गिराते हैं। बहुत से लोग इस आशंका से मतभेद व्यक्त करने का साहस नहीं जुटा पाते कि कहीं उनकी गिनती नासमझों में न हो जाए। मैंने कभी यह दावा करने की कोशिश नहीं की कि मैं बहुपठित हूँ या हर पुस्तक को उसकी सही जगह पर पदस्थ-अपदस्थ करने की काबिलियत से लैस हूँ। रचनाओं के बारे में ऊँचाई से फतवे जारी करने की शैली मेरी नहीं है। यह काम अपने जिम्मे लेने वालों की कमी नहीं है। गोकि ऐसा करने से अन्ततः लेखक का अहित ही होता है। जब किसी पुस्तक के बारे में मेरी राय प्रचलित राय से भिन्न होती है तो प्रायः उसे व्यक्त करने में भी संकोच होता है। इधर जिन पुस्तकों ने प्रभावित किया उनमें भगवान दास मोरवाल के उपन्यास 'रेत' को मैंने प्रकाशित होते ही

पढ़ लिया था। लेखक को फोन से अपनी राय बता दी और कुछ मित्रों को उसे पढ़ने के लिए प्रेरित किया। यही स्थिति काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' की थी। पर कुछ समय से बहुचर्चित आत्मकथा 'पिंजरे की मैना', व्यापक प्रशंसा के बावजूद, मुझे प्रभावित नहीं कर सकी। मुझे विश्वास है कि यदि श्रीमती सौनरेक्सा कुछ समय और जीवित रहतीं तो उन्होंने उसका यथोचित सम्पादन किया होता। यह एक मध्यवर्ग की घरेलू लेखिका द्वारा बड़ी सरल और बेबाक ढंग से लिखी गई उसकी जिन्दगी की दास्तान है। जाहिर है उनके पास इसके शिथिल कलेवर को काट-छाँटकर कलात्मक विन्यास देने का समय और धैर्य नहीं बचा था। पूरी कहानी अनावश्यक ब्यौरों से भरी पड़ी है, जिससे पठनीयता भी बाधित हुई है। समाजशास्त्री और स्त्रीवादी पाठक हो सकता है, इससे कुछ काम की सामग्री जुटा सकें।

मुझे कभी यह स्वीकार करने में भी हेठी नहीं लगती कि कुछ पुस्तकों को मैंने समय रहते नहीं पढ़ा। ऐसा बहुतों के साथ होता है भले ही कोई स्वीकार न करना चाहे। ऐसे दो प्रसंग याद आ रहे हैं। जरूरी होने पर भी मैंने अम्बेडकर की जीवनी कुछ वर्ष पहले तक नहीं पढ़ी थी। कुछ आधी-अधूरी जानकारी उनके उद्धरणों से और कुछ गाँधी जी के साथ उनके मतभेद के प्रसंग से हासिल कर ली थी। जब दलित रचनाकारों की कृतियाँ सामने आईं, उनके आपसी विवादों से सामना पड़ा तो मुझे अम्बेडकर की जीवनी को पढ़ने का संकल्प और टालना सम्भव नहीं लगा। कुछ ऐसी ही स्थिति स्त्री विमर्श सम्बन्धी सैद्धान्तिक पुस्तकों के साथ घटित हुई।

कभी-कभी चाहकर भी कुछ पुस्तकें अनेक कारणों से छूट जाती हैं। जैसे सलमान रुश्दी की रचनाएँ तब तक पढ़ने का उत्साह नहीं हुआ, जब तक वे 'सेटेनिक वर्सेज' को लेकर विरोध और विवाद के घेरे में नहीं आए। यह बात अलग है कि उसके बाद भी जो जितना पढ़ा उससे उनके लेखन में विशेष रुचि जाग्रत नहीं हुई। इससे कुछ अलग ढंग का उदाहरण चार्ली चेप्लिन की आत्मकथा का था। वर्षों तक समझदार पाठकों से उसकी प्रशंसा सुनने के बावजूद, पढ़ने का सुयोग अभी कुछ महीने पहले बना, जब एक पढ़ाकू मित्र से उसकी प्रति खरीद कर मँगवा ली। एक गैर-साहित्यिक व्यक्ति की बेहद प्रभावी और मार्मिक रचना।

पुस्तकों को कभी तत्काल, कभी देर-सबेर पढ़ लेना अब तक ऐसी आदत बन चुकी है जो समय व्यतीत करने का सबसे सार्थक जरिया महसूस होता है। खासकर योजना मुक्त ढंग से कुछ ऐसा, जिसे पढ़कर लगे कि समय का सदुपयोग हुआ। ऐसी कुछ पुस्तकों में हाल में प्रकाशित यायावर कृष्णनाथ की दो पुस्तकें–'नागार्जुन कोण्डा' और 'दत्त दिगम्बर माहे गुरु' पढ़ी और पाकिस्तान की सियासत और सामाजिक हालात पर लिखा गया एक उपन्यास 'धुआँ और चीखें', जो प्रकाशित तो चार वर्ष पहले हुआ था पर प्रचार-तन्त्र की शिथिलता से अलक्षित रह गया। शायद इसलिए कि उसके लेखक दामोदर दत्त दीक्षित की झण्डाबरदारी करने वाले लोग लगभग नहीं है। बहरहाल उपन्यास अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और पठनीय है। शायद इसीलिए 2005 में प्रकाशित होने के बाद अगले ही साल उसका दूसरा संस्करण आ गया था।

आश्वस्ति की बात यह है कि आँख-कान सलामत और बुद्धि ठिकाने रहे, तो बाकी जिन्दगी में भी अच्छी पुस्तकों की कमी नहीं रहेगी। शायद ही पहले रचनाकारों की इतनी पीढ़ियाँ एक साथ रचना-कर्म में संलग्न रही हों। या पत्रिकाओं की ऐसी भरमार अब से पहले देखने में आई हो। सर्जनात्मक उर्वरता का यह मंजर लगभग अभिभूत करने वाला है।

सम्पर्क : ए-20/17 डी. एल. एफ सिटी, फेज-I, गुड़गाँव (हरियाणा)-122002, मो. 9810146375

दाराशुकोह : इतिहास के भीतर-बाहर

पंकज राग

मेवाराम द्वारा लिखित 868 पृष्ठों का यह उपन्यास न सिर्फ रोचक है बल्कि अपने साथ कई सन्दर्भों और उनमें निहित मूल्यों, विचारधाराओं और जीवनशैली के टकरावों को भी साथ लेकर चलता है। यह सिर्फ दाराशुकोह की कहानी नहीं है; यह शाहजहाँ के जमाने की आड़ में सत्ता के संघर्ष की वह कहानी है जो मध्यकालीन भारत में एक सामंतवादी संरचना के अन्दर निरन्तर थी और जो आज भी भिन्न आवरणों में उतनी ही मजबूती से चल रही है। 'दाराशुकोह' में सत्ता का यह संघर्ष कई स्तरों पर चलता है, और सभी स्तर एक-दूसरे से घुले-मिले भी हैं। एक ओर शुद्ध साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ हैं, धन, विलास और वैभव के साथ अपरम्पार शक्ति को पाने की ललक है तो साथ ही इसका एक पहलू बनकर दाराशुकोह की सूफियाना धर्मनिरपेक्षता के साथ धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लेपन की विचारधारा का वह संघर्ष भी है जिसे पूरे उपन्यास में बड़ी कुशलता से दिखाया गया है और जिसका फायदा उस वक्त औरंगजेब बड़ी चतुराई के साथ दाराशुकोह के विरुद्ध एक वातावरण तैयार करने में उठाता है तथा जिसके सहारे वह न सिर्फ युद्ध में, बल्कि जनमानस के एक बड़े स्तर पर भी दाराशुकोह की एक गुनाहगार 'काफि र' की छवि बनाकर उसे परास्त करने में सफल होता है। धर्मनिरपेक्षता की उदारता और कठमुल्लापन की ताकत को सत्ता के संघर्ष के साथ जोड़कर उपन्यासकार द्वारा कई प्रसंगों में जगह-जगह पर बारीकी के साथ प्रस्तुत किया गया है, जो इस उपन्यास की एक विशेषता है।

'दाराशुकोह' एक बड़े फलक पर रचा गया उपन्यास है। दाराशुकोह की किशोरावस्था से लेकर औरंगजेब के सत्ताधारी होने के बीच का तमाम मुगलिया इतिहास पात्रों और घटनाओं के सजीव चित्रण से प्रभावी बन पड़ा है। सबसे खास बात यह है कि मेवाराम ने उपन्यास को यथासम्भव प्रामाणिक बनाने की कोशिश की है। तिथियों, स्थानों और घटनाओं के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने इस उपन्यास को लिखने के पूर्व व्यापक शोध और परिश्रम किया है तथा उस जमाने के प्राथमिक स्रोतों जैसे अब्दुल हमीद लाहौरी रचित 'पादशाहनामा', इनायत खान रचित 'शाहजहाँनामा', निकालाओ मनूची के 'स्टोरिया द मोगोर' आदि के विधिवत अध्ययन से प्रामाणिक तथ्य भी जुटाए हैं और उस जमाने के चरित्रों और माहौल को भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने में मदद ली है। चरित्रों और उनके आपसी रिश्तों को पूरी संश्लिष्टता के साथ पाठकों तक पहुँचाने में उपन्यासकार ने सफलता पाई है–विशेषकर दाराशुकोह का राणादिल के साथ प्रेम सम्बन्ध जिसे उपन्यासकार व्यक्तिगत स्तर से उठा एक धर्मनिरपेक्ष विचारधारा के स्तर पर भी स्थापित करने की कोशिश करता है, दारा की अपनी बहन जहाँआरा के साथ की प्रगाढ़ता, जो सत्ता संघर्ष के एक खेमे के रूप में सामने आती है, और दाराशुकोह की अपने पिता शाहजहाँ के साथ की घनिष्ठता। जहाँ स्नेह और वात्सल्य के कारण शाहजहाँ दारा की कई बातों को नापसन्द करते हुए भी उसी पर अपना वरदहस्त रखता है। उपन्यासकार की खासियत यह रही है कि उसने कहीं भी किसी चरित्र को अनावश्यक रूप से महिमामण्डित करने की कोशिश नहीं की है। दारा का चरित्र भी अपनी कमजोरियों के साथ ही सामने आता है और कहीं-कहीं तो जहाँआरा के साथ मिलकर शाहजहाँ को झूठी-सच्ची बातों के द्वारा औरंगजेब के विरुद्ध भड़काने के प्रसंगों में तो उसके व्यक्तित्व की लघुता और उथलापन भी स्पष्ट रूप से झलकते हैं। विचारधारा की उदात्तता या नैतिकता के तमाम फलसफों के बावजूद व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ के स्तर पर कितना छोटा हो जाता है, यह तो आज भी हम तमाम क्षेत्रों में देखते ही हैं; और दाराशुकोह भी इस कमजोरी का शिकार तो था ही। मेवाराम Stereotyped छवियों से अलग जाकर उपन्यास के पात्रों

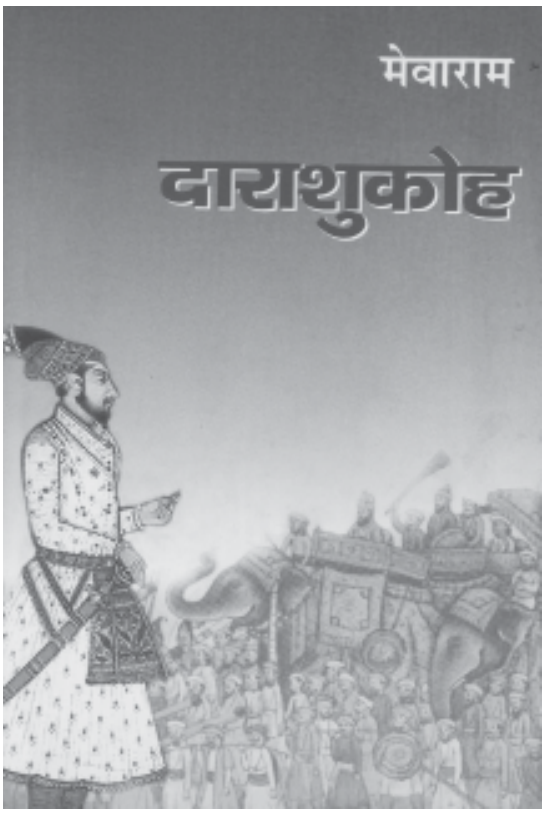

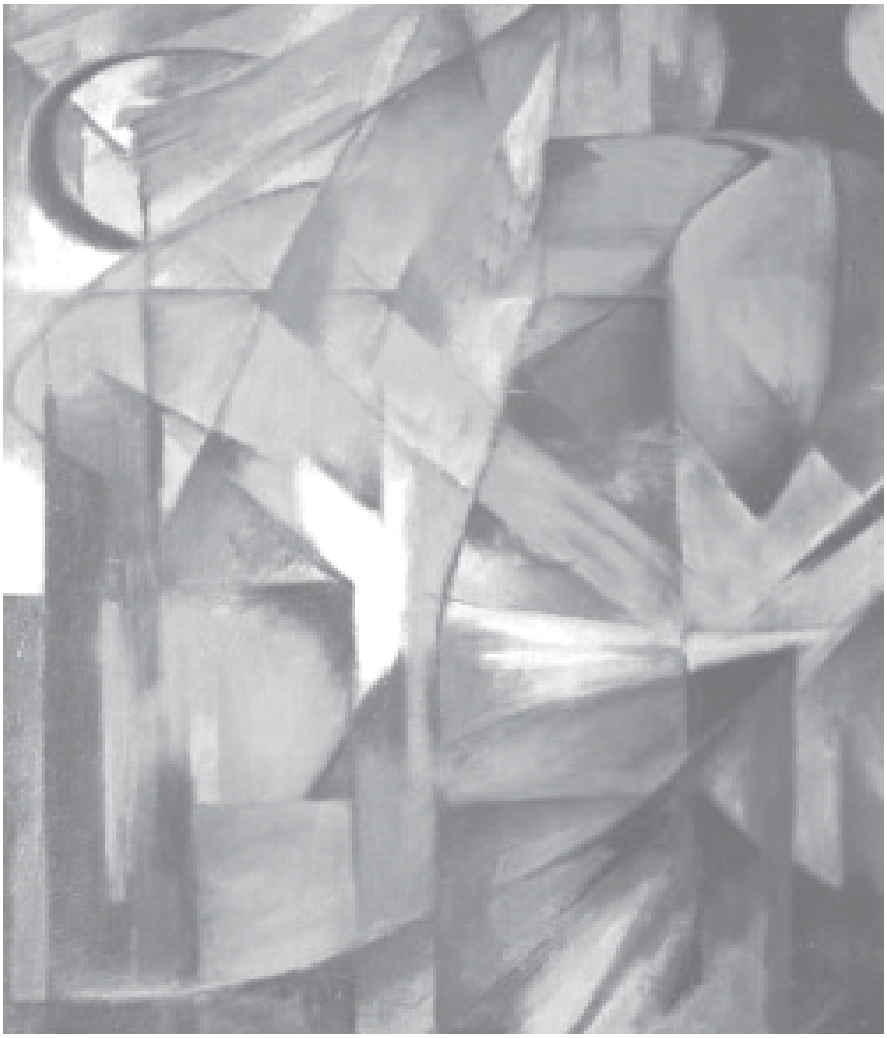

का कुशल यथार्थवादी चित्रण करने में सफल रहे हैं। दारा और औरंगजेब के आपसी रिश्तों को भी उपन्यासकार ने नाटकीयता से यथासम्भव बचाने की कोशिश की है। सीधे-सीधे एक-दूसरे के विरोध या सामना के नाटकीय प्रसंगों के प्रलोभन से बचते हुए उन्होंने इस द्वन्द्व को मुगल सल्तनत की सत्ता की लड़ाई के बड़े परिप्रेक्ष्य में स्थापित किया है तथा धर्मनिरपेक्षता और कट्टरपंथी विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में उसे जगह-जगह परोक्ष ढंग से भी उभारा है।

भाषा के स्तर पर भी मेवाराम सफल रहे हैं। हिन्दी के उपन्यास में जहाँ तक उस जमाने की भाषा को लाया जा सकता था, उतना लाने का प्रयास जगह-जगह दृष्टिगोचर होता है। सामंती संस्कृति के तमाम उपादानों का भी चित्रण प्रभावशाली है–चाहे वह प्रतिष्ठा या इज्जत की सामंती परिभाषा का विस्तार हो या मुगल बादशाहों की पतनशील अय्याशी, जो अपने सामंतों की बेगमों से जबर्दस्ती के स्तर पर भी आ सकती थी। उपन्यास का अन्त बेहद रोचक है। सत्ता के संघर्ष की परिणति के नाटकीय क्षण, औरंगजेब का एक-एक करके अपने भाइयों को खत्म करना, ग्वालियर किले के बन्दीगृह का खौफनाक मंजर–इन सभी का वर्णन लेखक की इतिहास दृष्टि और कल्पनाशीलता दोनों को ही रेखांकित करता है। मेवाराम का 'दाराशुकोह' मात्र इतिहास नहीं है, सत्ता और धर्म के अन्तर्सम्बन्धों, उदारता और कट्टरवादी प्रवृत्तियों के संघर्ष तथा महत्त्वाकांक्षा और मानवीयता के द्वन्द्वों के अपने पाठ में यह आज भी प्रासंगिक है।

दाराशुकोह/ मेवाराम/ भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-3/ मूल्य : 600 रु.

निदेशक, भारतीय फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, विधि महाविद्यालय मार्ग, पुणे 411004 (महाराष्ट्र)
मो. 09822039772

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिन्दी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

कैम्पस के ताले खोलने की कोशिश

मीनू मंजरी

'कैम्पस नॉवल्स' बीसवीं सदी के मध्य से उत्तरार्ध तक में एक जानी-पहचानी विधा बन गए थे। डेविड लॉज की 'हॉउ फार कैन यू गो' या किंग्सले एमिस की 'लकी जिम' जैसी पुस्तकें तो अब कल्ट स्टेटस पा चुकी हैं। हालांकि इन ठेठ परिसर उपन्यासों में मुख्यतः छात्रों के दृष्टिकोण का ही चित्रण होता था। भारत में यह ट्रेंड चेतन भगत के 'फाइव प्वाइंट समवन' की धमाकेदार बिक्री से चलन में आया। वैसे हिन्दी में भी बेहतरीन परिसर उपन्यास देखने को मिले, जैसे उदय प्रकाश का 'पीली छतरी वाली लड़की'। लेकिन इसमें भी छात्र-जीवन ही अग्रभूमि में (फोर ग्राउंडेड) था।

ममता कालिया के नए उपन्यास 'अंधेरे का ताला' में कैम्पस की दुनिया शिक्षिकाओं के नजरिए से देखने को मिलती है। कथावाचक के रूप में लेखिका उपन्यास की दुनिया पर बाहर से टिप्पणी करती जाती हैं। 'स्ववित्तपोषित, अनानुदानित, हीनों में भी हीन' कोटि का महाविद्यालय है, रानी लक्ष्मीबाई डिग्री कॉलेज। इसकी प्राचार्य नंदिता चक्रवर्ती इसे सतत बेहतर बनाने के प्रयत्न में हैं। पर इसमें आने वाली विभिन्न समस्याएँ भारतीय शिक्षा जगत के समक्ष खड़ी चुनौतियों को एक-एक कर सामने रखती हैं।

रानी लक्ष्मीबाई डिग्री कॉलेज मानो एक माइक्रोकॉज्म है, जहाँ आप हर बीतती घटना की परछाईं पा सकते हैं। पर इसका यह मतलब नहीं कि यह दास्तान एक टाइप्ड चरित्र की है। कॉलेज की शिक्षिकाओं, छात्रों और समूह 'घ' के कर्मचारियों का चरित्र-चित्रण पूरी व्यक्तिपरता से हुआ है। कॉलेज की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष हैं डी.डी.अग्रवाल, जिनके लिए शिक्षा एक व्यवसाय है। यदि 'शुभ लाभ' नहीं तो फिर सब बेकार। पढ़ना-पढ़ाना तो बस यूं ही है। वहीं नन्दिता के लिए यह एक पैशन है। वह अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण भाग पढ़ाने के नाम पर कर चुकी है।

नंदिता चक्रवर्ती का चरित्र कुछ आत्मकथात्मक झलक लिए है। इसकी मानवीयता पुस्तक को विश्वसनीय बनाती है। बड़ी बहन जी बहुत कड़ी हैं, नियमों की पक्की। पर वे भी जीवन के अर्थशास्त्र से बँधी हैं। जानती हैं कि परिवार में एक क्रान्तिकारी काफी है, इसीलिए मैनेजर श्री डी.डी.अग्रवाल की खरी-खोटी या अनपढ़-सी बातें सुनकर भी कॉलेज में बनी रहती हैं। अपनी सत्ता का पूरा उपभोग करना जानती हैं वह—चाय का सबसे बड़ा प्याला सबसे पहले उन्हीं के पास लाया जाता है। समाजसेवा का शौक भी वे टीचरों से चन्दा इकट्ठा कर पूरा कर लेती हैं। ये बारीकियाँ ही बड़ी बहनजी के चरित्र को त्रिआयामी बनाती हैं और वह महज किताबी न रहकर एक जीवंत अनुभूति बन जाती हैं।

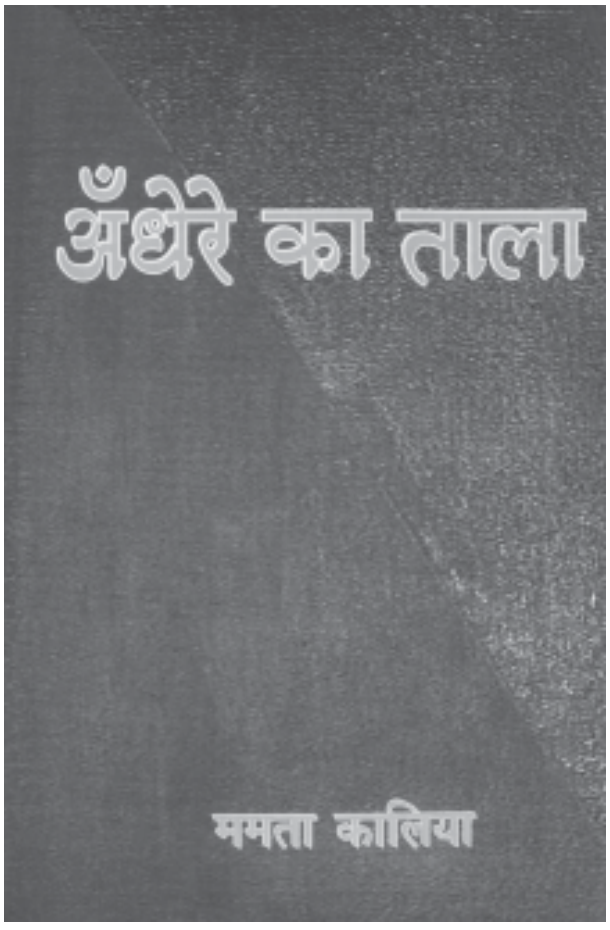

'अन्धेरे का ताला' शीर्षक निराला जी की एक कविता से लिया गया है। यह एक ऐसा व्यंग्यात्मक प्रहार है जो आज की शिक्षा पर विभिन्न ओर से होता है। शिक्षा प्रणाली की लगभग हर खामी को यहाँ उकेरा गया है। चाहे वह बहनजीयों द्वारा बिनाई करना हो या छात्राओं द्वारा खुद नोट्स बनाने की बजाय रेडीमेड नोट्स की माँग करना। शिक्षा के अपराधीकरण पर भी ममता कालिया कड़ी टिप्पणी करती हैं। संसाधनों की कमी पर तो कई प्रहार हैं—कॉलेज के बाथरूम की स्थिति इतनी शोचनीय है कि हास्यास्पद बन गई है।

विडम्बना के ट्रीटमेंट का यह अन्दाज उपन्यास को एक नवीन पहलू दे गया है। लेखिका रोती-झींकती नहीं हैं बल्कि चैप्लिन की क्लासिक फिल्मों की तरह त्रासदी के कॉमिक पहलू को इस तरह सामने लाती हैं कि आपके

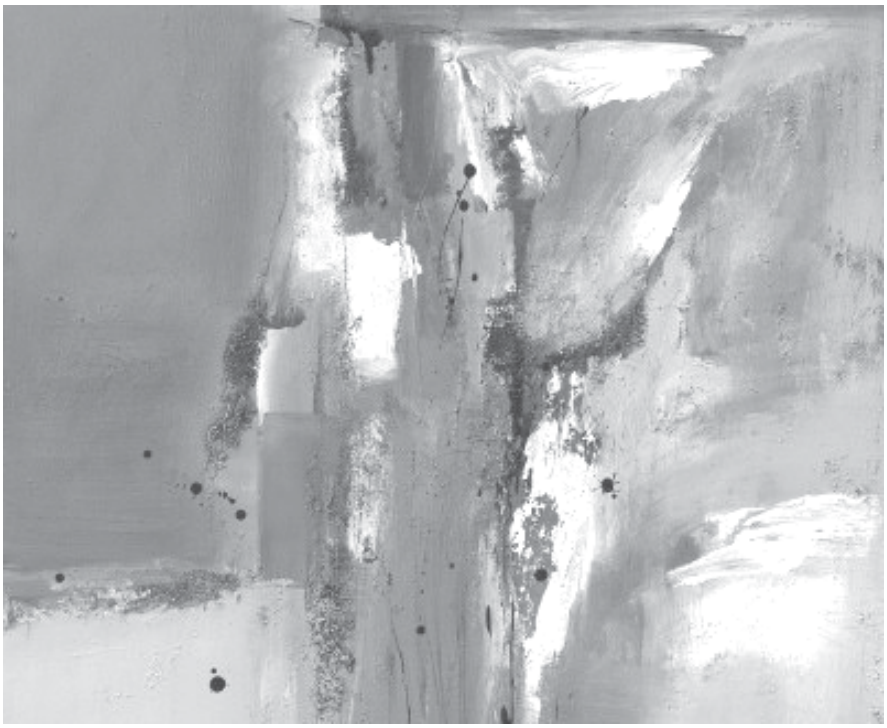

लबों पर मुस्कान तो आ जाती है, पर दिल पर एक धक्का लगता है। जब एक लड़का बिंदास प्रिंसीपल को पेपरवेट मार कर चला जाता है। कितना सही है बड़ी बहन जी का यह क्रन्दन– 'मेरे ही ऑफिस में मुझे मार कर गया', उज्जैन में प्रोफेसर सभरवाल की भी भरे कॉलेज में हत्या कर दी गई, सबने देखा और अब हत्यारे बरी भी हो गए। क्यों न दें शिक्षक नियमों को गच्चा। उन्हें भी तो जान प्यारी है न!

एक और बहुत महत्त्वपूर्ण बात जो इस उपन्यास में उठाई गई है वह है छात्रों में नैतिकता की दिन-ब-दिन कमी। वे लूट-पाट करते हैं, लड़कियाँ प्रेमियों को भाई बताती हैं, लड़के खुलकर फ्लर्ट करते हैं और किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। पुस्तक की पृष्ठभूमि के रूप में इलाहाबाद शहर की एक जीवंत उपस्थिति है। वह कहानी में घुसकर एक चरित्र हो गया है–आर.के.नारायण के मालगुडी की तरह। इस पृष्ठभूमि की वजह से हिन्दी पट्टी वालों का आई.ए.एस. बनने का फितूर, इससे उपजने वाले ट्यूशन उद्योग और छात्रों की हृदयहीनता को एक प्रसंग के जरिए व्यक्त किया गया है। हालांकि यह प्रसंग उपन्यास में मुख्य कथा से बिल्कुल अलग है और कथा की बुनावट में पैबन्द-सा लगता है।

पर इतनी विडम्बनाओं के चित्रण के बावजूद उपन्यास का प्रमुख स्वर कड़वाहट का नहीं है–यही आशावादिता 'अन्धेरे का ताला' की सबसे बड़ी उपलब्धि है। लेखिका ने कहीं भी अपना 'हास्यबोध' खोया नहीं है। अन्त में शिक्षिकाएँ जब किसी तरह झाड़-झंखाड़ भरे रास्ते को पारकर कॉलेज पहुँचती है तो एक सनकी द्वारा रास्ते में दीवार खड़ी कर दी जाती है। शिक्षिकाएँ ईंट-पत्थर मारकर दीवार गिरा देती हैं और लक्ष्मीबाई की ही तरह दीवार फाँद जाती हैं। यह दीवार प्रतीक है कि सभी परेशानियों के बावजूद महिलाएँ दीवार फाँद ही लेंगी। आखिर में सभी दीवारें टूटेंगी ही।

उत्तर-आधुनिकता के युग में सीधे-सीधे कथा प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों को उदाहरणस्वरूप रखा जाना चाहिए। आप 'अन्धेरे का ताला' एक बार उठाएँगे और पूरा पढ़कर ही नीचे रखेंगे। यह एक ऐसी खासियत है जो आजकल कम ही देखने को मिलती है। मुद्दे उठाने और सच्चाई को पेश करने के लिए अबूझ होने की जरूरत नहीं है–ममता कालिया इसे बेहतरीन ढंग से साबित करती हैं।

अन्धेरे का ताला/ ममता कालिया/ वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2/ मूल्य 200.00

बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-20, फोन : 09334406442, 09835699558

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ

पुस्तक-वार्ता
संपादक : भारत भारद्वाज
मूल्य : 20/- प्रति अंक

हिंदी
संपादक : ममता कालिया
मूल्य : 125/- प्रति अंक

पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए सम्पर्क करें :

प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र,
महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र,
फेज-II, नई दिल्ली-110020
फोन : 011-26387365

वास्तुशिल्पियों की दुनिया का जादुई यथार्थ

पुष्पपाल सिंह

जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि 'हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक बढ़ता जा रहा है।' वैसे तो यथार्थवाद को लेखकों ने विश्वास के रूप में नहीं बल्कि आजकल के आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है। कविता यथार्थ की उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है।' जीवन का प्रत्येक क्षेत्र कथा का अंग बन रहा है। पेशे से वास्तुशिल्पी-आर्किटेक्ट तथा शौक से अति यथार्थवादी चित्रकार नरेन्द्र नागदेव का 'खम्भों पर टिकी खुशबू' ऐसा ही उपन्यास है, जिसमें वास्तुशिल्पियों और भवन-निर्माताओं-बिल्डरों की दुनिया में व्याप्त भ्रष्टाचार-सदाचार का बड़ा निकट से देखा संसार चित्रित किया गया है। अपने 'तमाशबीन', 'उसी नाव में', 'बीमार आदमी का इकरारनामा', 'वापसी के नाखून', 'सैलानी' तथा 'वहीं रुक जाते' जैसे कहानी- संग्रहों और वास्तुकला के व्यवसाय पर आधारित 'अन्वेषी' उपन्यास से उन्होंने कथा-साहित्य में अपना विशेष स्थान बनाया है। 'खम्भों पर टिकी खुशबू' का वृत्तांत जिस रूप में रचा गया है, वह किसी भी क्षेत्र में मूल्याधारित जिन्दगी जीने वालों की नियति बन जाता है। अच्छे श्रेष्ठ जीवनमूल्य चारों ओर नित्य हार का मुँह देखने को अभिशप्त हैं। उपन्यासकार की बहुत बड़ी सफलता यह है कि वह अपने पाठकों को बहुत विश्वसनीय रूप में वास्तु के संसार में चल रहे माफिया-साम्राज्य से निकट का परिचय कराता है। इसी पेशे से जुड़े होने के कारण वह इन कुत्सित चालों से गहरा परिचय रखता है। इन मूल्यों के लिए लड़ने वाले सुनील सर चक्रव्यूह में घिर गए अभिमन्यु जैसे हैं जिन्हें अपनी लड़ाई टूटे हुए रथ-चक्र से ही लड़नी पड़ती है। उनका माफिया-साम्राज्य से युद्ध युग-युगों से चली आती उस लड़ाई का अंग है जो सदैव अनेक मुहानों पर सही आदमियों द्वारा हमेशा से लड़ी जा रही है, ''...बात यह है कि यह सब जो घट रहा है ना, ये एक चिरंतन संघर्ष के शेड्स हैं, जो सही और गलत के बीच चलता ही रहता है। जिस दिन आदमी ने होश सम्भाला था, उसी दिन शुरू हुआ था यह। और उसके अन्तिम दिन तक ऐसे ही चलेगा। इसमें किसी भी तरह के विराम की गुंजाइश नहीं है। पैटर्न भी वैसी ही है हर जगह। अर्थात् जो भी गलत होगा, उसी का आक्रमण, आँधी-तूफान की तरह होगा... वे बुलडोजरों के काफिले की तरह आएँगे, और अपने प्रवाह में हर चीज को छिन्न-भिन्न कर चले जाएँगे, और जो सही होगा, वह कैसे प्रतिवाद करेगा'' (पृ. 104)

एक प्रतिभाशाली आर्किटेक्ट सुनील सर की यह संघर्ष यात्रा तब प्रारम्भ होती है जब 'पैरामाउंट' जैसी भवन-निर्माता कम्पनी में 'हर ग लत' का विरोध करते हुए उन्हें बाहर का दरवाजा दिखा दिया जाता है, बहुत ही तिरस्कारपूर्वक। वे प्रेसवालों को बुलाकर पैरामाउंट कम्पनी में चल रही धाँधलियों का पर्दाफाश कर देते हैं। माफिया के बॉस सालोमन को उन्होंने चुनौती देते हुए अपनी समानान्तर भवन निर्माता कम्पनी खड़ी कर ली थी–उस माफिया कम्पनी से मुकाबला करने के लिए, शहर में जिसकी सामान्तर सत्ता चलती थी। जिसके सामने कोई टेंडर भरता ही नहीं था। भरता भी था तो वह पास नहीं होता था, क्योंकि नगरपालिका स्तर से लेकर ऊपर तक के अधिकारी और राजनीतिक नेतृत्व पैसे के बल पर माफिया के खरीदे हुए गुलाम और उसकी गोटियाँ मात्र थे। 25 बरस पहले विशी अंकल जैसे आर्किटेक्ट को भी यही सब भुगतना पड़ा था। उनके सहयोगी-साझेदारों को पैरामाउंट ने खरीद लिया था। ''इसीलिए विशी अंकल को लगता था कि उनका अतीत ही सुनील का वर्तमान है।'' सुनील सर की इस संघर्ष-यात्रा का खुलासा करने के लिए उपन्यासकार ने जो कथा-युक्तियाँ अपनाई हैं वे विस्मयकारी हैं और उपन्यास-शिल्प के नए आयाम देती हैं। अप्पा जैसे सदाचारी व्यक्ति के पुत्र छोटे को उसके चाचा ने किस

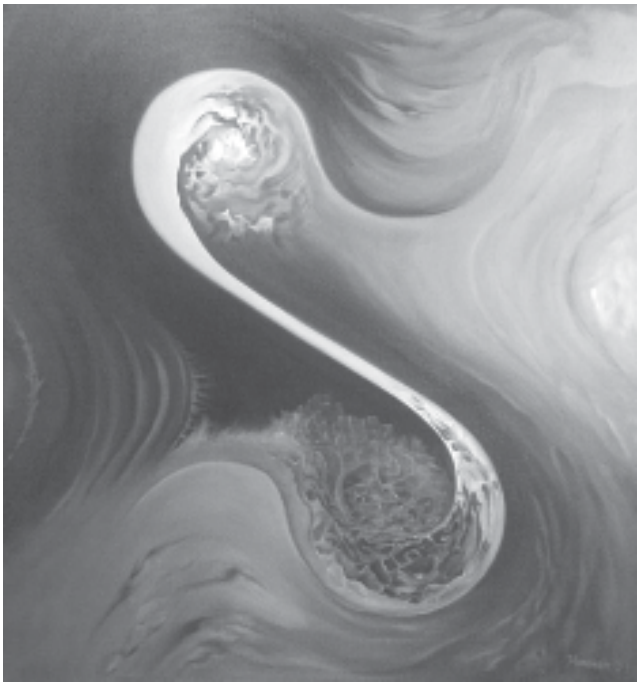

प्रकार इस माफिया गिरोह का सदस्य बनाकर उसे 'हरदयाल एण्ड कम्पनी' में जासूसी के लिए 'प्लांट' किया था। उससे उसका ऐसा सदाचारी रूप सामने आता है कि वह अपने निकट से निकटस्थ व्यक्ति की भी जासूसी करने से बाज नहीं आता। उसकी आत्मा उसे भले ही क्षणांश के लिए ऐसे कुत्सित कार्य के लिए धिक्कारे, पर उसके पैर माफिया गिरोह तक खबर पहुँचाने के लिए स्वतः चल पड़ते हैं। उसके जन्मजात गुणों का ब्यौरा देने के लिए उपन्यासकार ने यक्ष और यक्षिणी का संकेत इस्तेमाल कर अपने दक्ष कलम का परिचय दिया है। छोटे की करतूतों का भण्डाफोड़ करते हुए उसने हिटलर की नाजी सेनाओं को लेफ्ट-राइट-लेफ्ट-राइट मार्च करते हुए, गलियों में यहूदियों को रौंदते हुए चले जाने का वर्णन किया है। उन तक जासूसी खबरें पहुँचाने वाले संगीतकार बूढ़े का एक मासूम-सा दिखने वाला बेटा है, जो चुपचाप जर्मन सैनिकों को इशारा कर रहा है कि उधर...वहाँ छिपे हैं यहूदी...। द्वितीय महायुद्ध पर आधारित एक फिल्म का यह दृश्य उपन्यास में बार-बार अपनी उपस्थिति एक अनुगूँज की तरह कराता है, जब-जब छोटे अपना जमीर बेचकर अपनों का ही राज डान सालोमन के आदमियों तक पहुँचाता है। फंतासी का प्रयोग करते हुए उपन्यासकार एक और कथा-युक्ति का सशक्त प्रयोग करता है। छोटे की आत्मा की आवाज को जगाने और उसकी कार्य-विधि को नियन्त्रित करने के लिए स्वर्ग से उसके पिता अण्णा को बार-बार इस मृत्युलोक में अवतरित किया जाता है। यह अलग बात है कि वे छोटे को नियन्त्रण में नहीं कर पाते हैं और हर बार ऊपर निराश ही लौटते हैं। पूरी कथा छोटे के पश्चाताप के रूप में ही कही जाती है–वह अपनी करनी पर पछताता पैरामाउंट कम्पनी के माफिया साम्राज्य और उसके डॉन सालोमन की एक-एक करतूत का पर्दाफाश करता चलता है। छोटे ऐसा दुर्दांत जासूस क्यों बना, इसको स्वयं वह कथा के अन्त में अपने आत्म-मंथन के रूप में वर्णित करता है, किन्तु उपन्यासकार यहाँ कभी मिथकीय चरित्रों की प्रस्तुत कर उसकी मनोदशा को उद्घाटित करता है, तो कभी भाग्यवादी चिन्तना के रूप में–''बदलाव का क्षण आया होगा, कहीं नींद के दौरान?/होता है बन्धु! किसी बच्चे की किलकारी में बदल जाता है कोई जल्लाद/बुद्ध की दयामय दृष्टि से बदला नहीं था क्या क्रूर अंगुलिमाल?/वाल्मीकि भी तो दस्यु थे, प्रभु के सान्निध्य तक''! इन सबके दुर्दांत जीवन के भीतर 'पुण्य की कोई कंचन आभा छिपी होगी' जो भक्-भक् जगमगा उठी होगी दिव्य के स्पर्श से।'' (पृ. 241) तभी वे बदल सके थे किन्तु छोटे के जीवन में ऐसा अवसर नहीं आया, अतएव इस प्रकार जासूसी करना, चाचा के माध्यम से सालोमन के लिए स्वयं को बेच देना ही उसकी नियति बन जाती है। उपन्यास के इस शैल्पिक प्रयोग में उपन्यासकार का चित्रकार और आर्किटेक्ट एक साथ ही उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः विवेच्य उपन्यास का कथ्य तो सामान्य ही है, उसकी विशिष्टता केवल यह है कि यह वास्तुशिल्पकारों-भवन निर्माताओं की कार्य-शैली की प्रथम व्यू प्रस्तुत करता है किन्तु इसकी शैल्पिक नवीनता इसे बहुत सशक्त और पठनीय कृति का रूप देती है। जिस दो हजार साल पुराने 'हमारे शहर' में एक बच्चे के स्वतन्त्रता आन्दोलन में शहीद हो जानेवाली शिला पर उसका स्मारक बनना है, उस शहर में अभी भी राजा आदित्य सेन वर्मा आता है, 'कच्चे धागे पर नाचती हुई नटिनी' का 'बारिश में उफनती नदी को पार करना' सिंहासन बत्तीसी को पुतलिकाओं का एक-एक कर प्रश्न पूछते हुए उड़ जाना, बत्तीसवीं पुतली के प्रश्न पर राजा (मुख्यमन्त्री) का सहम जाना और उस आवाज की यह प्रतीति ''आवाज जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के तूफानी दिनों में, एक आठ-दस साल के बच्चे की, गोली खाकर इस शिला पर गिरने की गौरवमय शहादत की कथा, बहुत भावुक होकर सुना रही थी। फिर उसने पूछा कि क्या तुम्हें अभी भी नजर आते हैं, इस पर जमे हुए रक्त के धब्बे...एक विस्मय-भाव में डाल देती है।'' उपन्यास के बीच में इस बालक के शहीद होने की लोमहर्षक कथा का कौशलपूर्वक विन्यस्ति और फिर उसका स्मारक बनाने की ये कारस्तानियाँ बड़े कौशल से उपन्यास को अपने समय की राजनीतिक, प्रशासनिक और भवन निर्माण के क्षेत्र में चल रही कारगुजारियों का एक सशक्त विमर्श बनाती हैं। कितनी ही योजनाओं, भवन-निर्माण आदि के 'ब्लू प्रिंट' किस प्रकार देश में 'धोखाधड़ी के दस्तावेज' बन गए हैं, इसका गहरा परिचय देती हुई कथा अपना यह निष्कर्ष प्रस्तुत करती है कि ''अब तो दूसरी दुनिया है विशी। खालिस दुनियादार। और वहाँ कला कहाँ है। वहाँ तो शुद्ध व्यवसाय है। मुनाफे पर टिका हुआ।'' इसी प्रवृत्ति के चलते हर योजना 'सही हाथों से निकलकर गलत हाथों में पहुँच जाती है–पैसे के बल पर भ्रष्ट माफिया साम्राज्य सत्ता और प्रशासन को खरीद कर मनचाहे ढंग से उनका इस्तेमाल कर सकता है।' 'खम्भों पर टिकी खुशबू' इन्हीं स्थितियों के बीच मूल्यों की लड़ाई लड़ने वाले निष्ठावान आर्किटेक्ट सुनील सर की अतुलनीय कहानी बन जाता है। अपने कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उपन्यास समकालीन उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान बनाता है।

खम्भों पर टिकी खुशबू/ नरेन्द्र नागदेव/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-110002/ मूल्य : 300.00

63, केसर बाग, पटियाला-147001

कहानी

मानवीय संवेदनाओं का कोलाज

सोमदत्त शर्मा

इधर हिन्दी कहानी की दुनिया में जिन युवा लेखकों ने जोर से दस्तक दिया है, उनमें मनीषा कुलश्रेष्ठ भी शामिल हैं। 'कठपुतलियाँ' मनीषा कुलश्रेष्ठ की नौ बेहतरीन कहानियों का संग्रह है। सभी कहानियों का अपने ढंग का वैविध्य और कथ्य है। विभिन्न पृष्ठभूमियों, जीवन की स्थितियों, उतार-चढ़ावों को लेकर बहुरंगी परिवेश और जीवन की कड़वाहटों और सुख-दुःख को उजागर करती सभी कहानियों के अपने रंग हैं।

संग्रह की सबसे पहली कहानी 'कठपुतलियाँ' आम आदमी के सुख-दुःख, उसके दर्द, टूटन, खुशियों और गमों को बहुत खूबसूरती और शिद्दत से अभिव्यक्ति देती है। रामकिसन और सुगना कहानी के दो प्रमुख पात्र हैं। जीवन में आए उतार-चढ़ाव कैसे जीवन को बदल डालते हैं, और आदमी कैसे कठपुतली की तरह नाचता है, यह इस कहानी में बखूबी दिखाया गया है। सुगना की शादी जोगिंदर से तय हुई थी, मगर सुगना के पिता के गुजरते ही लेन-देन की बात पर उसका रिश्ता टूट जाता है और उसकी शादी कठपुतलीवाले रामकिसन से हो जाती है। बेमेल शादी किसी के जीवन में कितना तूफान लाती है, यह इस कहानी में साफ दिखाया गया है। तेरह बरस की सुगना को तीस बरस के अपाहिज और विधुर रामकिसन कठपुतलीवाले से ब्याह दिया जाता है। सुगना किस तरह से जीवन बिताती है, कहानी इसे दिखाने में कामयाब रहती है।

''पहले देह जब शान्त नदी-सी पड़ी रहती थी, तो वह मीलों तैर जाता था। अब जब वह नैसर्गिक आकांक्षाओं से भरपूर नदी में बदल जाती है और इन्हीं आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रसन्न-प्रछन्न क्षमताओं से परिपूर्ण होकर बहती है–प्रबल-प्रगल्भ, तो रामकिसन के लिए मुश्किल हो जाता है इस उफनती नदी को बाँहों में भर कर तैरना।'' इससे सुगना के मनोजगत के भावों को अभिव्यक्ति मिलती है। मानवीय भावनाओं के अनेक पहलुओं को बड़ी संवेदनशीलता से उजागर करती है 'कठपुतलियाँ' कहानी।

इस संग्रह की दूसरी कहानी है 'प्रेत-कामना'। इस कहानी में मानव-मन की कोमल भावनाएँ, संवेदनाएँ, दुःख-दर्द, अकेलापन, अपनत्व, भावनाओं का ज्वार, वैचारिक द्वन्द्व, कुछ सुखद आत्मीय पलों की तलाश और देह सुख की कामना जैसे बहुत संवेदनशील प्रसंग हैं, जो कमोबेश हरेक के जीवन में आते हैं। बहुत सारे-प्रसंगों को बहुत सुन्दर दृश्य-बन्धों के साथ मार्मिक और प्रभावी भाषा-शैली और हृदय को छू लेने वाले अन्दाज में प्रस्तुत किया गया है। अपने गुरु के प्रति एक शिष्य (महिला शिष्य) के आकर्षण, श्रद्धा और जुड़ाव को मर्मस्पर्शी अन्दाज में प्रस्तुत करने में बहुत कामयाब रही हैं मनीषा। इस सशक्त कहानी के कई प्रसंग दिल को छू जाते हैं गहरे तक!

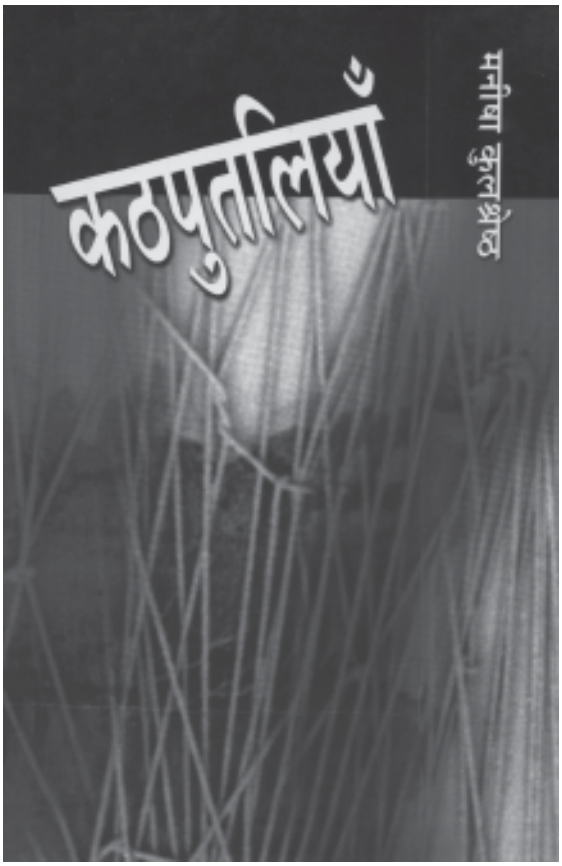

नारीवाद और नारीवादिता को लेकर और औरत के स्वतन्त्र अस्तित्व पर कथानक में एक जगह मार्मिक प्रसंग आता है। एक प्रोफेसर और दिग्गज शिक्षाविद् अणिमा नाम की अपनी शिष्या को, जो उनके प्रति बहुत गहरा अपनापन और भावनात्मक लगाव रखती है, कुछ इस तरह समझा रहे होते हैं।

''यह सम्भव नहीं अणिमा, हर इन्सान को जीवन में एक सोलमेट की जरूरत होती है। नारीवादी होने का अर्थ यह नहीं है कि पुरुष की आवश्यकता को नकार दिया जाए जीवन से ही। नारीवादिता का अर्थ है, औरत की अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रति सजगता। विवाह अवश्य करना और उस दाम्पत्य की नींव में एक मजबूत कन्धा लगाना और दूसरा बचाकर रखना। उस पर रखना नींव अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की और सन्तुलन साधे चलाना जीवन। शुरू के सालों में दिक्कत होगी, फिर सीख जाओगी विवाह और कैरियर का सन्तुलन साधना।''

संग्रह की तीसरी कहानी 'भगोड़ा' है, जिसमें एयरफोर्स में भर्ती हुए तीन नौजवानों का मन एयरफोर्स की सेवा में नहीं रमा और तीनों ने बजाय वहाँ से कानून सम्मत तरीके से छोड़ने के, भागने का रास्ता पकड़ा, क्योंकि समय से पहले एयरफोर्स की सेवा छोड़ने पर 40 लाख रुपये का हर्जाना भरना पड़ता।

एयरफोर्स की सेवा से भागकर प्रशांत फ्रीलांस इंस्ट्रक्टर के रूप में फ्लाइंग सिखा रहा था। वहीं पर दिव्या नाम की युवती को सैस्ना जैसा छोटा विमान उड़ाना सिखाते हुए दोनों एक-दूसरे के काफी करीब आते हैं? इतने करीब कि वह एयरफोर्स में मिग-21 विमान उड़ाने की बात एक सम्मोहन में आकर दिव्या को बता देता है। अपनी एक वर्ष की एयरफोर्स की सेवा के बारे में भी प्रशान्त दिव्या को बता बैठता है।

दिव्या के सेवानिवृत्त सेनाधिकारी पिता को सारा प्रसंग पता लगता है तो वे अपनी बेटी को कहते भी हैं–

''कहीं कुछ गड़बड़ है दिव्या। जिस प्रशान्त के शान्त-रहस्यमय, चुप्पे से व्यक्तित्व से तुम यूँ प्रभावित हो, उसके पीछे कोई हिस्ट्री जरूर है। लैट मी फाइंड इट आउट, आफ्टर आल इट इज द मैटर ऑफ योर लाइफ।''

वक्त किससे कब क्या करा दे, इसका पता ही नहीं चलता। समय के बलवान होने को उजागर करते कई प्रसंग हैं। प्रशान्त सोचता और पछताता है।

संग्रह की चौथी कहानी 'परिभ्रान्ति' बढ़ती उम्र के एकाकीपन, व्यवहार, सोच और जीवन संध्या की कई परतों को खोलकर जीवन के कुछ अलग ही रंग दिखाती है। वृद्धावस्था में जीवन साथी के बिछुड़ने की तकलीफ और एकाकीपन किसी वयोवृद्ध को किस तरह सालता है और उस अकेलेपन और जीवन को नीरसता का अहसास किस कदर व्यक्ति को तोड़ता है, 'परिभ्रान्ति' नामक कथा में इसका बड़ा ही मनोवैज्ञानिक और भावप्रवण विश्लेषण किया गया है। इसका तानाबाना ऐसे बुजुर्ग व्यक्ति के आसपास बुना गया है, जो उम्र के इस पड़ाव पर विचित्र और असामान्य हरकतें करता है।

'अवक्षेप' कहानी के माध्यम से कॉलेज जीवन और गर्ल्स हॉस्टलों के जीवन पर विश्लेषणात्मक ढंग से रोशनी डाली गई है। हॉस्टलों के कैसे-कैसे रंग-ढंग हैं, कई प्रसंगों में यह साफ हुआ है।

'कुरजाँ' कहानी में जीवन के मार्मिक प्रसंगों को पिरोकर कथा का ताना-बाना बुना गया है। कहानी मेडिकल पृष्ठभूमि को खुद में समेटे हुए है। इसमें एक मरीज के माध्यम से विभिन्न दृश्य-बिम्बों की रचना की गई है। अच्छे-भले इन्सानों को डायन के तौर पर प्रचारित कर कैसे लोग उनका जीवन बर्बाद करते हैं और अन्धविश्वासों और रूढ़ियों में खुद की जिन्दगी भी तबाह कर लेते हैं, इस तथ्य और सत्य को उजागर और स्थापित करने में मनीषा ने 'कुरजाँ' के माध्यम से सराहनीय और ईमानदार प्रयास किया है।

'बिगड़ैल बच्चे' अपने ढंग की अनूठी कहानी है। जीवन की मार्मिक संवेदनाओं को खुद में समेटे इस कहानी के कई प्रसंग मन को छूते हैं। इन्सान कैसे एक-दूसरे का मददगार और कृतज्ञ होता है और जीवन किस तरह से जल के प्रवाह की तरह बहता और चलता रहता है, अपनी अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी मनीषा ने इसे बड़े सलीके और शिद्दत से दिखाया है। यही नहीं, नई पीढ़ी के उत्तरदायित्वहीनता का प्रतिकार करते हुए इस कहानी ने उसे मार्मिक संवेदनशीलता के धरातल पर उठाया है।

कथा संग्रह की आखिरी और बेहद मार्मिक कहानी है 'स्वांग'। किस तरह से बरसों से बहुरूपिये का वेश बनाकर कुछ लोग अपने सुख-दुःख को परे रखकर औरों का मनोरंजन करते आए हैं, इस कहानी में बड़े सलीके से मनीषा ने दर्शाया है। स्वांग भरने वाला बहुरूपिया अपनी पत्नी से एक स्थान अपने मन का दर्द कुछ यूँ उजागर करता है–

''तुम जरा-सी बात नहीं समझती कि...अब जब इत्ती दूर निकल आया हूँ तो मुश्किल है वापसी। अम्मी-अब्बू नहीं लौटा सके हमें अपने उस्ताद की कला की गोद से तो तुम क्या...तुम क्या जानो पुराने जमाने में उस्तादों का अपने चेले पर बाप से ज्यादा हक बनता था। हम मुसलमान होकर भी भांड पहले हैं। फिर भी तुम एक बहुरुपिये का साथ नहीं निभा सको तो आजाद हो...वैसे बेगम, जमाना ही बहुरुपिया है। हरेक आदमी एक स्वांग रचे बैठा है।''

मनीषा की विभिन्न कहानियों में जीवन के अलग-अलग रंग ही नहीं, अलग शेड्स भी हैं। जीवन को हँसाने-गुदगुदाने वाली स्थितियाँ हैं, तो भावनाओं के रेले भी हैं। जीवन की उमंग-तरंग है तो दुःख-दर्दों के मेले भी हैं। कामयाबियों-प्राप्तियों-उपलब्धियों के किस्से हैं तो नाकामियों-हादसों और बहुत कुछ खो जाने के सिलसिले भी हैं। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने बहुत उम्दा, सधे अन्दाज में और रोचक-मार्मिक शैली में अलग-अलग कहानियों के माध्यम से हमारे समाज के श्रमजीवी लोगों के जीवन को उठाया है। तसल्ली दी है तो कहीं-कहीं रुलाया भी है। आँसू बहे हैं तो कहीं आँखें हँसी भी हैं। इस जीवन का यही है रंग-रूप। इस कहानीकार में सर्जनात्मकता के स्तर पर एक बड़ी सम्भावना है।

कठपुतलियाँ/ मनीषा कुलश्रेष्ठ/ भारतीय ज्ञानपीठ बी-18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003/ मूल्य : 120/-

---

14677, बलबीर नगर एक्स., गली नं.4, शाहदरा दिल्ली-110032; मोबाइल : 9871677725

स्त्री जीवनानुभावों की कहानियाँ

रेखा एस.यादव

एक स्त्री को जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक बन्धनों और मर्यादाओं के साथ अपना जीवन जीना होता है। खाना-सोना, उठना-बैठना, घूमना-फिरना, मिलना-जुलना, पहनना-ओढ़ना और जीना-मरना सब एक तयशुदा तरीके से पूर्व निर्धारित नियमों के तहत संचालित होता है। कहा जा सकता है कि एक स्त्री की हर क्रिया पर 'सेंसरशिप' है। और अब तो नई तकनीकों के माध्यम से एक स्त्री का जन्म लेना भी 'सेंसरशिप' है। विभिन्न सेंसरशिप से गुजरते हुए जो स्त्रियाँ लिखने लगती हैं, वे स्त्री-जीवन के खुरदर एवं कटु अनुभवों को काफी हद तक सामने लाती हैं। लिखना उनके लिए एक यौगिक क्रिया मात्र नहीं होती। कहानीकार कमल कुमार के कहानी संग्रह 'अन्तर्यात्रा' में सम्मिलित कहानियाँ स्त्री जीवन के इन्हीं अनुभवों के ताप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हमारी बेचैनियों को और बढ़ाती और भड़काती हैं।

यद्यपि कमल कुमार अपने आपको सीधे तौर पर 'स्त्रीवादी' कहानीकार नहीं मानतीं। प्रतिष्ठित लेखिका कृष्णा सोबती और सक्रिय समाजकर्मी मधु किश्वर भी अपने आपको 'स्त्रीवादी' नहीं कहतीं। कभी खुद मार्क्स ने कार्यकर्ताओं के कठमुल्लेपन से खीझकर कहा था कि वे मार्क्सवादी नहीं हैं। बहरहाल लेखिका की उक्त मान्यता के बावजूद 'स्त्री अध्ययन' की एक विद्यार्थी के बतौर इस संग्रह में सम्मिलित कहानियों को पढ़ते हुए मुझे यही लगता है कि अधिकांश कहानियाँ मूल रूप से स्त्री प्रश्नों को सम्बोधित हैं। संग्रह में कुल उन्नीस कहानियाँ संकलित हैं। जिनमें आधे से अधिक कहानियों में पितृसत्तात्मक दबाव, दमन और सीमाओं को संवेदनशीलता के साथ उजागर किया गया है।

संग्रह की पहली कहानी 'जंगल' एक ऐसी औरत की कहानी है, जो तमाम सामाजिक नियम-कानूनों को धता बताते हुए अपनी इच्छानुसार अपनी जिन्दगी के फैसले खुद करती है। इसी क्रम में बिना शादी किए हुए ही 'प्रेगनेण्ट' होती है और बच्चे को जन्म देती है। इस दौरान समाज द्वारा उठाए गए सवालों से 'बोल्डनेस' से टकराती है और उनका जवाब देती है। 'प्रेगनेण्ट होने के लिए शादी का सर्टिफिकेट चाहिए होता है क्या? एक अदद मनचाहा, मनभाया आदमी चाहिए होता है।' पर अन्ततः वह क्रूर सामाजिक मान-मर्यादाओं के आगे आत्मसमर्पण कर हार जाती है। फिर इसमें 'बोल्डनेस' कहाँ है? क्या कमल कुमार ने सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' नहीं पढ़ा है? इस उपन्यास की नायिका वर्षा विवाहपूर्व अपने प्रेमी से संभोग ही नहीं करती, बच्चे को जन्म भी देती है। लेकिन समाज को चुनौती देती है। फिर भी यह सच है कि समाज के द्वारा स्त्री को सिर्फ 'गिनीपिग' समझा जाता है यह बात यह कहानी पूरी तरह से स्पष्ट करती है। 'कैटलिस्ट' कहानी भी एक अकेली औरत की ही कहानी है, जो तमाम कष्टों को बर्दाश्त कर समाज में अपनी एक जगह बनाती है। समाज को उससे तब तक कोई परेशानी नहीं है, जब तक वह तमाम सामाजिक मान-मर्यादाओं का पालन करते हुए घुट-घुट कर जी रही है। लेकिन जैसे ही वह अपनी घुटन त्याग कर खुश रहना शुरू करती है, उसके भीतर जीने की इच्छा जागती है। समाज को उससे परेशानी होने लगती है और अंततः उसे इसकी सजा 'ट्रांसफर आर्डर' के रूप में मिलती है।

इन दोनों कहानियों में लेखिका अकेली स्त्री की समस्याओं को चिन्हित करती है। प्राचीन परम्परागत समाज से लेकर तथाकथित 'उत्तर आधुनिक' समाज की यही सच्चाई है कि एक स्त्री का अकेले जीवन जीना तपते रेगिस्तान में नंगे पाँव चलने के समान है। समाज हर पल उसकी चेतना को कुचलने के लिए प्रयासरत रहता है। कदम-कदम पर उसे यह बोध कराता रहता है कि वह 'व्यक्ति' नहीं मादा है। इन दोनों कहानियों के पात्रों का जैसा चित्र लेखिका ने खींचा है, उससे भारतीय समाज में अकेली स्त्री की त्रासद स्थितियों का अनुमान लगाया जा सकता है। इन कहानियों को पढ़ते हुए सहज ही अकेली स्त्रियों के सन्दर्भ में समाजवादी विचारक डॉ. राममनोहर लोहिया के विचार याद आ जाते हैं। लोहिया का कहना था 'समाज में औरतों की स्थिति

खराब है, लेकिन सबसे खराब स्थिति उन औरतों की है, जो अकेले रहती हैं और विभिन्न मर्द दोस्तों के साथ घूमती हैं।'

संग्रह की दूसरी कहानी 'पूर्ण विराम' में साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान स्त्रियों के ऊपर होने वाले भयानक हिंसा को चित्रित किया गया है। कहानी का फलक अत्यन्त विस्तृत है। यहाँ एक साथ स्वतन्त्र भारत में होने वाले साम्प्रदायिक हिंसा और भारत विभाजन के समय हुए साम्प्रदायिक हिंसा का स्त्रियों के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों को रेखांकित किया गया है। ''वही सलूक करो, इनकी बहू-बेटियों, माँओं के साथ जो इन्होंने हमारी औरतों के साथ किया। उससे भी बुरा करो। ऐसा करो कि एक बार तो हैवानियत भी काँप जाए। सिखाओ इनको सबक।'' दरअसल स्त्रियों के साथ जुड़ी इज्जत की अवधारणा के कारण साम्प्रदायिक हिंसा के दौरान सदैव स्त्रियों को ही एक औजार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। एक स्त्री की इज्जत को बर्बाद कर देना पूरे कौम की इज्जत की बर्बादी मान ली जाती है। इसी सोच के तहत नुजहत की माँ, जो भारत-विभाजन के समय पाकिस्तान में ही रह गई थी, को नुजहत के अब्बू जबरदस्ती उठा ले जाते हैं। निकाह करते हैं। इसके बाद उसके साथ एक पत्नी की तरह नहीं बल्कि दूसरे कौम के दुश्मन की तरह व्यवहार करते हैं। ''उसके मुँह में गोश्त ठूँस देते और हँसते ...पीटते, वह बेहोश हो जाती तो हट जाते। अगले दिन फिर पीटने का सिलसिला। जिस्म पर मार और मन पर भारी बोझ के साथ नुजहत की माँ एक दिन पीटने के दौरान दम तोड़ देती है। नुजहत के अब्बू नहीं चाहते थे कि वह मर जाए। वे उसे जिन्दा रखना चाहते थे। जिन्दा इसलिए रखना चाहते थे कि वह उसे पीटकर, सताकर दूसरे कौम के प्रति अपनी नफरत को पूरा कर पाएँ। उसे नीचा दिखा पाएँ। यह कहानी साम्प्रदायिक हिंसा की शिकार स्त्रियों के तन-तन पर व्याप्त भय की रेखाओं को अत्यन्त स्पष्टता से उजागर करती हैं। साम्प्रदायिकता तथा विभाजन के मुद्दे पर जो विभिन्न महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गई हैं। उसी कड़ी की अगली कहानी के रूप में इस कहानी को देखा जा सकता है।

'अन्तर्यात्रा' कहानी को ऊपरी तौर पर पढ़ते हुए यह भ्रम फिर से मजबूत हो सकता है कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों की सबसे बड़ी दुश्मन होती हैं। स्त्रियों के ऊपर अत्याचार करने में कई बार तो वे पुरुषों से भी आगे बढ़ जाती हैं। लेकिन थोड़ी गहराई के साथ कहानी को पढ़ा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियाँ, स्त्रियों की स्वाभाविक दुश्मन नहीं हो सकतीं। यदि स्त्रियाँ स्त्रियों के ऊपर अत्याचार करती हैं तो इसके पीछे स्पष्ट रूप से वह पितृसत्तात्मक सामाजिक ढाँचा जिम्मेवार होता है, जो उन्हें ऐसा करने को मजबूर करता है। यह पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था ही है जो उन्हें इस व्यवस्था में भागीदारी के बदले में थोड़े विशेषाधिकार देती है, जिसके तहत एक स्त्री दूसरी स्त्री के साथ बुरा व्यवहार करती है। सविता की माँजी यदि उसे गर्भस्थ शिशु के गर्भपात के लिए मजबूर करती है तो इसके पीछे भी स्पष्ट रूप से यही पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही है, जो उन्हें उक्त कृत्य के लिए मजबूर करती है।

'के नाम है थारो' कहानी विधवा स्त्री के जीवन की विद्रूपताओं को अत्यन्त गहराई से सामने लाती है। मिक्खा के मृत्यु के बाद मिक्खा की पत्नी के साथ जो व्यवहार किया जाता है, वह भारतीय समाज में विधवा स्त्री के जीवन की हकीकत बयाँ करती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में एक स्त्री का जीवन विवाह के बाद पूर्णतः उसके पति के साथ जुड़ जाता है और यही कारण है पति की मृत्यु के बाद उस स्त्री की भी सामाजिक तौर पर मृत्यु हो जाती है। मिक्खा की मृत्यु के बाद मिक्खा की पत्नी का पूरा जीवन उसकी सामाजिक मृत्यु को अत्यन्त निपुणता से दर्शाता है। लेकिन इस सामाजिक मृत्यु के बाद भी एक स्त्री की भौतिक उपस्थिति होती है। इस भौतिक उपस्थिति से उसकी यौनिकता सामाजिक व्यवस्था को सदैव आतंकित किए रहती है। मिक्खा की पत्नी की यौनिकता का ही यह डर है जिसके कारण बुआ सदैव मिक्खा की विधवा को संयम, तपस्या, साध्वी-जीवन, आत्म नियन्त्रण का महत्त्व समझाती रहती है। कहानी के अन्त में मिक्खा की विधवा तमाम सामाजिक नियम-कानूनों को धता बताते हुए अनूप के साथ उल्लास भरा एक नया जीवन शुरू करती है। पूरी कहानी में मिक्खा की विधवा का तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपने आपको सिर्फ मिक्खा की विधवा न समझने की जिद भरी समझ, स्त्रियों के लिए इस आक्रामक समय में अपने आपको निरीह न समझने की हिम्मत पैदा करती है। 'सखियाँ' कहानी की मौलिकता, लेखिका का उस स्त्री मनोविज्ञान में दाखिल होना है जो पुरुष अनुभवों से बिल्कुल परे है। कहानी में लेखिका स्त्री के जिन गोपन कोने-अंतरों का भेद खोलती है, उससे कई निषिद्धों से अचानक परदा उठ जाता है।

उपरोक्त कहानियों से परे संग्रह की अन्य कहानियाँ 'वेलेंटाइन डे', 'पार्टनर' इत्यादि को पढ़ते हुए लगता है कि लेखिका किसी भी कीमत पर घर बचाए रखने की मुहिम को और तेज करना चाहती है। 'वेलेंटाइन डे', 'पूर्ण विराम', 'कैटलिस्ट', 'अन्तर्यात्रा' कहानी में निष्क्रिय स्त्री पात्रों के माध्यम से लेखिका क्या सीख देना चाहती है? इन सभी कहानियों की नायिकाएँ इस उम्मीद में सर से पानी गुजर जाने तक चुप रहती हैं कि एक-न-एक दिन उनके घर की स्थितियाँ अच्छी हो जाएंगी। ये सभी पात्र कर्तव्यपरायणता, दया, आत्मबलिदान, प्रेम, उदारता से ओत-प्रोत हैं, उनमें एक हद तक साहस की कमी भी है। यहीं लेखिका स्त्री-आन्दोलन के मुद्दों से भटक गई है। वह जिस स्त्री चरित्र को गढ़ती है वह स्त्री की वही आदर्श छवि है जिसे पुरुष प्रधान समाज अपने हितों के लिए सदैव बनाए रखना चाहता है। स्त्री आन्दोलन जिन मूल्यों एवं मान्यताओं को तोड़ने के लिए अब तक प्रयासरत रहा है। जाने-अनजाने लेखिका उन्हीं मूल्यों एवं मान्यताओं को मजबूत करती है। वस्तुतः इन विभिन्न कहानियों में लेखिका स्त्री जीवन की वास्तविक घटनाओं से टकराने की रचनात्मक कोशिश के दौरान अत्यन्त भावुक हो जाती हैं और यह भावुकता ही कहानियों को कमजोर करती है। इस संग्रह की कहानियों में न कथ्य की नवीनता है और न ही शिल्प की नई प्रविधि। पारम्परिक पिटी-पिटाई लीक पर लिखी गई ये कहानियाँ अन्ततः निराश करती हैं।

अंतर्यात्रा/ कमल कुमार/ रेमाधव पब्लिकेशंस प्रा. लि., सी-22, तृतीय तल, आर.डी.सी.राजनगर, गाजियाबाद-201102 (उ.प्र.), मूल्य : 195/-

---

महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, पो. मानस मन्दिर, पंचटीला, वर्धा (महाराष्ट्र)

हिन्दी कविता आजकल : एक

डॉ. हरदयाल

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की यदि कोई एक मूल प्रवृत्ति रेखांकित करनी हो तो वह होगी व्यक्ति-वादिता। इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि सामूहिक सरोकारों के प्रति उदासीन हो गये हैं। वे सामूहिक सरोकारों के प्रति पूर्णतः सजग हैं, लेकिन उनके पास सामूहिक सरोकारों के प्रति कोई सामूहिक विचार-दृष्टि, विचारधारा या 'वाद' नहीं है। और यदि है भी तो बहुत दुर्बल, बहुत क्षीण। इसने प्रत्येक कवि को एक निजी विशिष्टता और उसकी कविताओं को निजी सन्दर्भ दिया है। 'कवि ने कहा' शृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित विभिन्न कवियों के कविता-संग्रहों से जब हम गुजरते हैं तो इस निजी विशिष्टता और निजी सन्दर्भशीलता का बार-बार अनुभव होता है और हमें लगता है कि यदि इन कवियों की आत्मकथाएँ, संस्मरण, डायरी या इसी तरह की कुछ अन्य चीज़ें सुलभ होतीं तो उनकी कविताओं के मूल सन्दर्भों और स्रोतों तक पहुँचने में सुविधा होती और उनकी कविताएँ हमारे सामने और पारदर्शी होकर आतीं। ये चीजें सुलभ न होने से हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है।

मंगलेश डबराल आठवें दशक के बाद के कवि हैं। उनकी कविताओं में पहाड़ी प्रकृति, पहाड़ों के रहने वालों का दुखद जीवन, पहाड़ी लोक-संस्कृति, लोकगीत, पीछे छूटे परिजन, अपना मूल स्थान छोड़कर कहीं अन्यत्र बसने की विवशता आदि बार-बार आते हैं। वे दिल्ली जैसे शहर में आकर बस तो गये हैं, लेकिन शहर को लेकर उनके मनोभाव बहुत सुखद एवं उत्साहजनक नहीं हैं। अपनी कविता 'आते-जाते' में वे भूख, ऊब, उम्मीद, शहर और दुनिया के बारे में सोचते हैं। इसका कारण यह है कि शहर पालतू सूर्यास्त और सनसनीखेज खबरों से लौटकर अपना मुख छिपाता है। यहाँ कितनी ही भागदौड़ कर लीजिए, कुछ बचाया नहीं जा सकता। रात में जो सपने व्यक्ति यहाँ देखता है, वे सबेरे यहीं, सोने की जगह पर ही छूट जाते हैं। सुबह-सुबह एक सड़क, एक बस और धमकाकर काम कराती हुई नौकरी से दो-चार होना पड़ता है तब लगता है कि कवि जैसे व्यक्तियों के डरे हुए दिमागों-सी बन्द दुनिया डरी हुई है। यहां ''खामोशी थी किताबों में/ चौरस्तों पर आसमान में/ कविताएँ लिख-लिखकर/ हम एक विशाल अंधेरे में फेंकते जाते थे/ हमारे शब्दों से, कितनी दूर/ जिन्दा रहते थे लोग/ हमारी चीख से कितनी दूर मार दिये जाते थे वे/ किसी मोड़ पर।'' (पृष्ठ 16-18)

किसी छोटे-से पहाड़ी गांव से किसी महानगर में आकर नौकरी करने रहने वाले संवेदनशील व्यक्ति में इस प्रकार के मनोभावों का होना नितान्त स्वाभाविक है। निजी सन्दर्भों से कविताओं के जन्मने का प्रमाण मंगलेश की वे कविताएँ भी हैं जो उन्होंने माता, पिता, दादा, बच्चों, प्रेम-प्रसंगों, विदेश यात्राओं, संगीत और संगीतकारों आदि को लेकर लिखी हैं। गुजरात के नरसंहार ने उनके मर्म को भी छुआ है। उनकी कविताओं में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था, हत्याएँ करके अशोक की तरह अहिंसक बनने वाले शासकों, क्रूर सभ्यता, वर्तमान भयानक दुनिया भी प्रतिबिम्बित हुई है। ये सब चीज़ें और इसी प्रकार की अन्य चीज़ें उनका और समकालीन मध्यवर्ग के तमाम लोगों का स्वानुभूत सत्य है और इसीलिए हमें आकर्षित करता है।

मंगलेश डबराल की कविताएँ सामान्यतः भावों और विचारों पर आधारित हैं और ये प्रायः सरलीकृत हैं। उनमें सघन इन्द्रियानुभूति का सर्वथा अभाव है। इसीलिए अभिव्यक्ति के स्तर पर कोई जटिलता नहीं है। शायद इसीलिए कुछ नए उपमानों, मानवीकरणों और विरोधाभासों को छोड़कर कोई कलात्मक चमत्कार भी नहीं है।

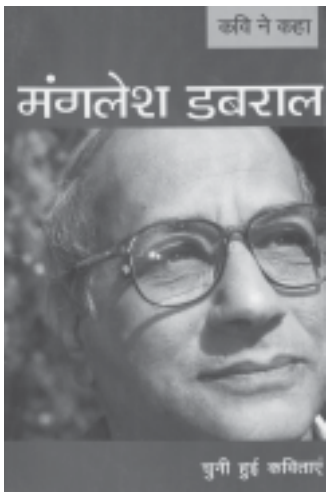

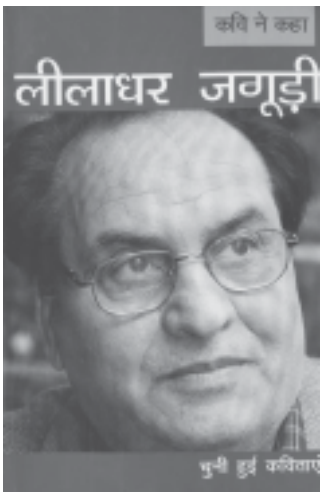

मंगलेश डबराल की तरह लीलाधर जगूड़ी भी उत्तराखंड के टिहरी जिले के ही एक गाँव धंगण में जन्मे हैं। इसे संयोग ही कहा जा सकता है कि अपनी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए दोनों साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित हुए हैं। दोनों की कविताओं में वस्तु और शिल्प के स्तर पर अनेक समानताएँ हैं। उन्हें भी पहाड़ों, वहाँ की प्रकृति,

वहाँ के जीवन, माँ से विशेष लगाव है। वे भी अतीत की स्मृतियों से भरे हुए हैं। उन्होंने भी अपनी कविताओं में प्रेम-प्रसंगों की बार-बार चर्चा की है। परिवेश और पारिवारिक स्थितियों में अनेक समानताओं के कारण इस प्रकार की समानताएँ स्वाभाविक हैं, लेकिन हैं ये ऊपरी स्तर की समानताएँ ही; अन्यथा दोनों की काव्यानुभूति और काव्याभिव्यक्ति में मौलिक अन्तर है।

जगूड़ी का काव्यजगत अभावों, पीड़ाओं और नकारात्मक भावों एवं विचारों से निर्मित हुआ है। उन्होंने भूख, बेरोजगारी, शोषण तथा अभावग्रस्त जीवन के विविध पक्षों को बार-बार विस्तार के साथ अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। 'इस यात्रा में' शीर्षक कविता में उनकी इस नकारात्मक सोच के स्रोत और संकेत हमें मिल जाते हैं। उन्हें लगता है कि आदमी जंगल और जानवरों से भी अधिक डरावना है। (पृष्ठ 142) चूँकि उन्हें जीवन में बहुत संघर्ष करना पड़ा है, इसलिए उन्होंने जीवन को एक 'भिड़न्त' के रूप में परिभाषित किया है–''वह समय आ रहा था जो हाथ नहीं आ रहा था/ इसलिए एक चीज़ हाथ में ली और दूसरी चीज़ से भिड़ा दी/ आवाज आई जिन्दगी एक भिड़न्त है।'' (पृष्ठ 141) उन्हें गाँव की अपेक्षा शहर ज्यादा अच्छा लगता है, क्योंकि वहाँ भूखों को रोटी मिल जाती है; काम मिल जाता है; बालों के लिए तेल, सोने के लिए खोह मिल जाती है, चाहे इसके लिए गाँव से शहर आए व्यक्ति को अपराध वृत्ति ही क्यों न अपनानी पड़े। (पृ. 23-24) इसीलिए वे सत्ताधीशों, पूंजीपतियों, अधिकारियों आदि की गणना 'हत्यारों' में करते हैं। (पृष्ठ 139) वे व्यवस्था के, तन्त्र के विरोधी हैं। इसमें लोकतंत्र भी शामिल है। यह इसलिए कि तन्त्र-व्यवस्था व्यक्ति की कीमत लगाकर उसे खरीदती है–

आप लोग सब कितने-कितने रुपये के लोग हैं?/ (जल्दी-जल्दी सोचिए)/ देर की तो उतने की भी कोई कीमत/ नहीं रह जायेगी/ कौन अपनी कितनी कीमत समझता है/ कहीं आने-जाने की/ बोलने-चालने की?/ परामर्श देने की?/ सब सहित कौन अपनी कितनी कीमत समझता है?/ जो जितनी बड़ी कीमत का है/ वह एक बार में ही बिक जाता है/ जितने में कम कीमत की दस साल तक बिके। (पृष्ठ 116)

तंत्र-व्यवस्था से जुड़े रहे जगूड़ी से अधिक इसे और कौन समझ सकता है।

स्पष्ट है कि समकालीन कवियों के साथ अनेक समानताओं के बावजूद उनका भाव-जगत, उनके विचारों की दुनिया विशिष्ट है। उनकी कविता की विशिष्टता अभिव्यक्ति के स्तर पर और अधिक उभर कर सामने आती है। वे सीधे-सपाट ढंग से अपनी बात नहीं कहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति जटिल होती है। उनकी कविता में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की प्रधानता है। वे शब्दक्रीड़ा भी खूब करते हैं; नए-नए उपमानों का खूब प्रयोग करते हैं। फलतः वे अमूर्त भावों और विचारों को और अधिक अमूर्त बना देते हैं, जिसके कारण उनकी अधिकांश कविताएँ सामान्य पाठकों के लिए दुर्बोध हो जाती हैं।

मंगलेश डबराल और लीलाधर जगूड़ी की तरह लीलाधर मंडलोई भी एक पिछड़े क्षेत्र और निम्नवर्गीय आर्थिक परिवार से निकले और दिल्ली जैसे महानगर में उच्च अधिकारी के पद पर पहुँचे। लेकिन उनकी कविताओं में उनका अतीत और उस अतीत में बने उनके संस्कार, उस अतीत से जुड़ी उनकी भावनाएँ बराबर अभिव्यक्ति पाती रहीं।

मंडलोई की अनेक कविताएँ आत्म-कथात्मक तत्वों से भरी पड़ी हैं। उनकी कविताओं से हमें पता चलता है कि वे कोयला खदानों में मजदूरी करने वाले माँ-बाप की सन्तान हैं। उनके पिता का जल्दी ही निधन हो गया। माँ ने ही उन्हें पाला-पोसा। संग्रह की पहली ही कविता 'मेरी उम्र बयालीस के आगे की परछाईं है' में उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक तथ्य हमें मिल जाते हैं। दूसरी कविता 'टेमा-ढिबरी' में कवि कोयला खदान क्षेत्रों में प्रकाश के इन दो साधनों के माध्यम से अपने और पैतृक परिवार के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ देता है। जैसे,

''वह अक्सर अंधेरों का समय था और रोशनी को बचाकर जीने की कला/ पिता ने दस्तख़त करने लायक अक्षर/ ढिबरी में पढ़ना सीखा/ हमने वर्णमाला/ और माँ ने सही जगह अंगूठा लगाना/ कि पगार बिना हील-हुज्जत के मिल सके।'' (पृष्ठ 16-17)

कवि लौटकर जब उन क्षेत्रों में जाता है तब अतीत मोह से ग्रस्त तो होता ही है; वहाँ के कुछ लोगों और वहाँ आए कुछ परिवर्तनों को भी हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

मंडलोई की कविताएँ विवरणों और वर्णनों से निर्मित हुई हैं। इन्हीं के माध्यम से उन्होंने घटनाओं, दृश्यों, स्थितियों, व्यक्तियों आदि के चित्र प्रस्तुत कर दिये हैं। इन सबमें काफी स्थूल स्तर पर उनका अपना जीवन अन्तर्व्याप्त है। कुछ नये उपमान, सटीक विशेषण, आंचलिक शब्द हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करते हैं और उनकी कविताओं को विशिष्टता प्रदान करते हैं। उनकी कविताएँ सहज, सरल हैं; उनमें जटिलता और कृत्रिम कलात्मकता बिल्कुल नहीं है।

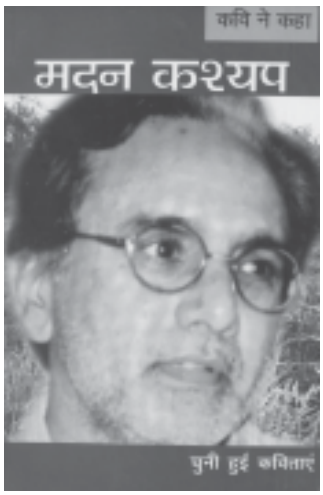

उपर्युक्त कवियों की तुलना में मदन कश्यप अपेक्षाकृत नयी पीढ़ी के कवि हैं। वे भी बिहार के वैशाली जिले के निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में जन्म लेकर जैसे-तैसे अपनी शिक्षा पूरी कर, जीविकोपार्जन के लिए जगह-जगह भटककर दिल्ली महानगर में आ पड़े हैं। इसलिए स्वाभाविक ही विषय-वस्तु के स्तर पर उपर्युक्त कवियों की कविताओं की विषय-वस्तु के साथ अनेक समानताएँ हमें दिखायी देती हैं। उनकी कविताओं में भी

आत्मकथात्मकता विद्यमान है। जब वे आठ वर्ष के थे तभी उनकी माँ का निधन हो गया है। उसके बाद वे अपनी ननिहाल में रहे। इसलिए उन्हें 'घर' और 'माँ' बहुत याद आती है। 'घर' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ कितनी नोस्टेलिजिया से भरी हुई हैं–

वह घर/जहाँ अक्सर सावन-भादों में/
घट जाता था चावल/ तब कोठी के
पेंदे से ढेर सारा भूसा निकालकर/
माँ चुनती थी एक मुट्ठी चावल/ और
याद करती थी दादी माँ के किस्से
के 'राकस' को।

अपने तन/ और तन पर चेहरे/ और
चेहरे में आँखें/ और
आँखों में सपनों को बचाते हुए/
जिन्दगी में बीहड़ को
करता रहा पार/ कन्धे में दुबक गया
चेहरा/ चेहरे में डूब गयी आँखें/ फिर
भी खोया नहीं सपना/ खोई नहीं यादें/
आती रही याद/ पीड़ा के अजस्र प्रवाह
में/ बेड़े में तिरती हुई दीपमालिका-सी/
माँ की हँसी। (पृष्ठ 35; 37)

शहर की अपेक्षा गाँव उन्हें अच्छा लगता है। शहर में साम्प्रदायिकता है, गाँव में साम्प्रदायिकता नहीं है। (पृष्ठ 41) वे किसानों के लिए वर्षा का अर्थ समझते हैं। धूप में तपे किसान के लिए बारिश बहुत सुकूनदेह होती है। (पृष्ठ 51) उनकी खान मजदूरों के प्रति सहानुभूति है। वे उनके शोषण के विरोधी हैं। वे इन मजदूरों के पक्ष में लिखी गयी कविताओं की प्रभावहीनता से भी परिचित हैं–''हर बार उसके अत्याचारों के सामने/ गत्ते के सुदर्शनचक्र के समान/ निरर्थक हो जाती है आपकी कविता।'' (पृष्ठ 48)

अन्य समकालीन कवियों की तरह उन्हें वर्तमान समय बड़ा भयावह लगता है। बिहारी मजदूरों को अन्य राज्यों में जीविकोपार्जन के लिए जाना पड़ता है और यातना सहनी पड़ती है। आँकड़े लोगों को ठगते हैं। पुलिस भ्रष्ट है। आतंकवाद फैला हुआ है। पृथ्वी का शोषण हो रहा है। लोकतंत्र मूल्यहीन है। शासक ताश का तिरपनवाँ पत्ता अर्थात् जोकर है। उनके सपाट पुते चेहरे और

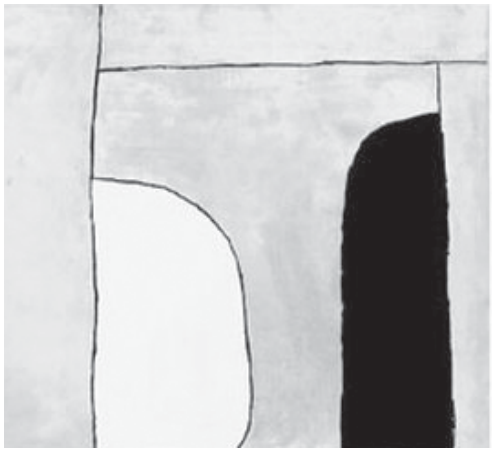

भावशून्य आँखों के भीतर कुछ नहीं है, लेकिन वह है सबसे अधिक शक्तिशाली। कवि भूमंडलीकरण और अमरीका के क्रूर विश्ववर्चस्व का विरोधी है। वह अमरीकी जनतन्त्र पर कटाक्ष करता है–''रोनाल्ड रीगन ने गढ़ी है/ लोकतंत्र की नयी परिभाषा/ अमरीकियों द्वारा अमरीकियों के लिए/ अमरीकियों की सरकार का नाम है जनतन्त्र।'' (पृष्ठ 107)

मदन कश्यप अपने परिवेश में से, अपने चारों ओर घटने वाली घटनाओं में से कविता की खोज करते हैं; कविता का आविष्कार करते हैं। उनकी अनेक कविताओं की संरचना हमें चमत्कृत करती है। उनकी अनेक कविताएँ चमत्कारपूर्ण अन्त वाली हैं, जैसे 'ट्रिक इंडिंग' कहानियाँ होती हैं। उनकी कविताओं में विषयवस्तु और भाषिक दोनों स्तरों पर भरपूर आंचलिकता है। उन्होंने तमाम ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो ठेठ आंचलिक हैं। जैसे, जमुवट, पोरसा, जगत (कुएँ की), फाव, खोंइछे, चौड़-चाँचर, बथान आदि। उनके द्वारा प्रयुक्त नये-नये उपमान हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। उनकी कविताएँ अपने समकालीन अनेक कवियों की तुलना में अधिक काव्यात्मक हैं।

अनामिका समकालीन हिन्दी कवयित्रियों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाने वाली कवयित्री हैं। यदि अभावग्रस्त कूड़ा बीनने वाले बच्चों, अंग्रेजी के द्वारा देशी भाषाओं का विस्थापन, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, सिलबट्टा अहोरने वाले व्यक्ति आदि से सम्बन्धित कविताओं को छोड़ दें तो उनकी प्रायः सभी कविताएँ स्त्री-जीवन के विविध पक्षों और विविध रूपों से सम्बद्ध हैं। स्थूलतः वे स्त्री-विमर्श की कविताएँ हैं।

अनामिका ने यद्यपि नाइन, लोहा करने वाली धोबिन, घरों में काम करने वाली महरी आदि से सम्बन्धित कविताओं में निम्न वर्ग की स्त्रियों को अपनी कुछ कविताओं का विषय बनाया है वरना उनकी सभी स्त्री-केन्द्रित कविताओं में मध्यवर्गीय स्त्री का ही जीवन और सरोकार अभिव्यक्त हुए हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, घर-गृहस्थी के चित्र, उनके मीठे-तीते अनुभव, शादी का घर, लेडीज संगीत, मां, पति, पुत्र आदि के साथ विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध, बच्चों का होमवर्क, माडल बनी लड़कियाँ, वृद्धाएँ, बेटियाँ, नानी, अधेड़ आदि स्त्री-रूप, वृद्धाओं की घर में उपयोगिता, विभिन्न पारिवारिक रिश्तों में स्त्री का विभाजन, घर के कामकाज में उसकी व्यस्तता, पचपन की आयु का अकेलापन, सम्बन्धों का क्षरण आदि की अभिव्यक्ति ऐसी है जो अपने स्त्रीत्व के प्रति सजग कवयित्री की कविताओं में ही सम्भव है। यह नयी मध्यवर्गीय स्त्री का अनुभव जगत है। महादेवी वर्मा या सुभद्राकुमारी चौहान का अनुभव-जगत इससे बहुत भिन्न था।

अनामिका अपने स्त्रीत्व के प्रति विशेष रूप से सजग हैं। जब वे स्त्री स्त्री क्यों है, इसकी खोज करती हैं तो उनकी यह सजगता उभरकर सामने आ जाती है–''क्यों होती है औरत/ जैसी वह होती है/ क्यों होती हैं उसकी आँखें/ जैसी वे होती हैं–/ तकलीफ की थोड़ी चमक/ और हल्की थर्राहट के बीच।'' (पृष्ठ 120-21) 'सत्रह वर्ष का प्रतियोगी परीक्षार्थी' शीर्षक कविता में जिस

अनुभव की अभिव्यक्ति हुई है, वह पुत्र और पति को लेकर एक स्त्री का ही अनुभव हो सकता है–

दूध जब उतरता है पहले-पहल, बेटा/ छातियों में माँ की/ झुरझुरी लगती है पूरे बदन में।/ उस दूध का स्वाद अच्छा नहीं होता,/ पर डॉक्टर कहते हैं–उसको चुभलाकर पी जाये बच्चा/ तो सात प्रकोपों से भी बच जाये बच्चा!

'बस, मम, बस आगे याद है मुझे!'/ रात के तीसरे पहर की ये मुक्त हँसी/ झड़ रही है पत्तों पर/ ओस की तरह!/ आगे की चिन्ता से परेशान उसके पिता/ नींद में ही मुस्का देते हैं धीरे से!/ उत्सव है उनका यह मुस्काना/ सुपर सीरियस घर में। (पृष्ठ 25; 28)

ऐसे ही अनुभव से 'चुटपुटिया बटन' जैसी कविता लिखी जा सकती है।

जैसे अनुभव के स्तर पर वैसे ही अभिव्यक्ति के स्तर पर भी अनामिका की कविताओं का अपना वैशिष्ट्य है। नीचे उद्धृत पंक्तियों को उनकी अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि उदाहरण माना जा सकता है–

मैं भी हुलचुल-हुलचुल/ टकदुम, ढुलमुल-ढुलमुल/गिरती-उठती, उठती-गिरती/ करती हूँ अपने सत्त और पानी का इंतजाम/ सेंध लगाकर मिट्टी में/ बारीक काँटों से/ जो मेरे पूरे वजूद पर कायम हैं/ छटपट-से हाथ-पाँव, छितिर-बितिर रोयें बन। (पृष्ठ 90)

अपूर्व ध्वन्यात्मकता, भरपूर आंचलिकता, प्रतीकात्मक सन्दर्भ, एक-से-एक अनूठे उपमान और ये सब अनूठी सूझ और बिम्बों में गुंथे हुए अनामिका की कविताओं की उपलब्धि हैं और ये किसी कवियशःप्रार्थी के लिए ईर्ष्या और प्रतिस्पद्र्धा का विषय हो सकते हैं।

'कवि ने कहा' शृंखला में मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, मदन कश्यप और अनामिका के कविता-संचयन/ किताबघर प्रकाशन, 8555-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2; मूल्य : 80.00 रुपये प्रत्येक

एच-50, पश्चिमी ज्योति नगर, गोकुलपुरी, दिल्ली-94
मो. 9871328269

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की संचयिता शृंखला

सं. रामचंद्र तिवारी

सं. डॉ. रमेशचंद्र शाह

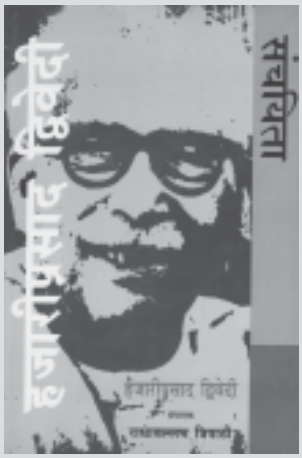

सं. राधावल्लभ त्रिपाठी

सं. नंदकिशोर नवल

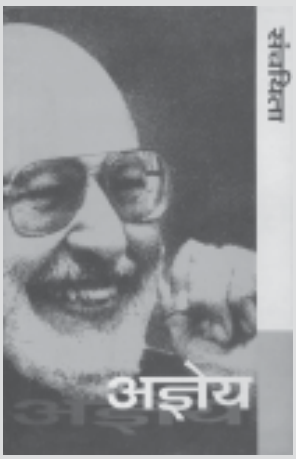

सं. नंदकिशोर आचार्य

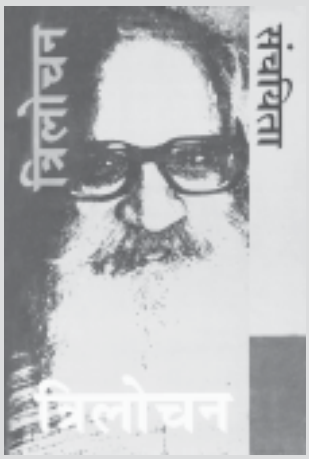

सं. ध्रुव शुक्ल

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय

युग और कविता की परख

ओमप्रकाश सिंह

स्वराज प्रकाशन दिल्ली द्वारा सन् 2008 में प्रकाशित पुस्तक 'आधुनिक कविता और युग-संदर्भ' प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक शिवकुमार मिश्र के सन् 2006 ई. तक प्रकाशित आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है। शिवकुमार जी ने इस पुस्तक की एक छोटी-सी भूमिका 'अपनी ओर से' शीर्षक से लिखी है। इस छोटी भूमिका में अनेक जानकारियाँ हैं। भूमिका लिखने की तिथि 3 सितंबर 2006 ई. है। जाहिर है इस पुस्तक में उक्त तिथि से पूर्व के निबन्ध संकलित हैं। इस संग्रह में 22 निबंध हैं। अंत में 'और अंत में' शीर्षक से कुछ टिप्पणियाँ, साक्षात्कार के क्षण और धूमिल का आत्मकथ्य दिया गया है। पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि ये निबंध आधुनिक काल की कविता से सम्बन्धित हैं। दरअसल, इन निबंधों के माध्यम से लेखक ने आधुनिक काल के कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक मुद्दों और उनके युगीन संदर्भ के पड़ताल की कोशिश की है। इसीलिए उसकी जद में कविता की भारतीय पहचान, नवजागरण और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर धूमिल तक हिन्दी के महत्वपूर्ण कवि शामिल हैं।

हिन्दी आलोचना की यह अच्छी स्थिति नहीं कही जाएगी कि इधर कई वर्षों से समीक्षा की किसी मुकम्मल पुस्तक का लेखन नहीं हुआ है। यह भी सच है कि हिन्दी के आलोचनात्मक लेखन का एक हिस्सा असंतुलित रहा है। इधर कई वर्षों से लगभग सभी बड़े आलोचकों ने समय-समय पर लिखे गए अपने निबंधों को संकलित-संपादित कर एक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया है। इस क्रम में सफलता-असफलता का हाथ लगना स्वाभाविक है। हाँ, यह जरूर है कि सफलता कम ही हाथ लगी है। शिवकुमार मिश्र की यह किताब भी संकलित निबंधों का संग्रह है, पर सुखद है कि इसके निबंधों में सघन तारतम्य है। लेखक ने बिल्कुल ठीक लिखा है–'इन निबंधों का रचनाकाल भले ही अलग-अलग हो, ये विचार के एक अविच्छिन्न सूत्र में बंधे हुए निबंध है।' शिवकुमार जी की प्रतिबद्धता जगजाहिर है। वे विचारों की अविच्छिन्नता की बात न करते तो भी इसकी तलाश की जाती और समय के साथ मिलान भी।

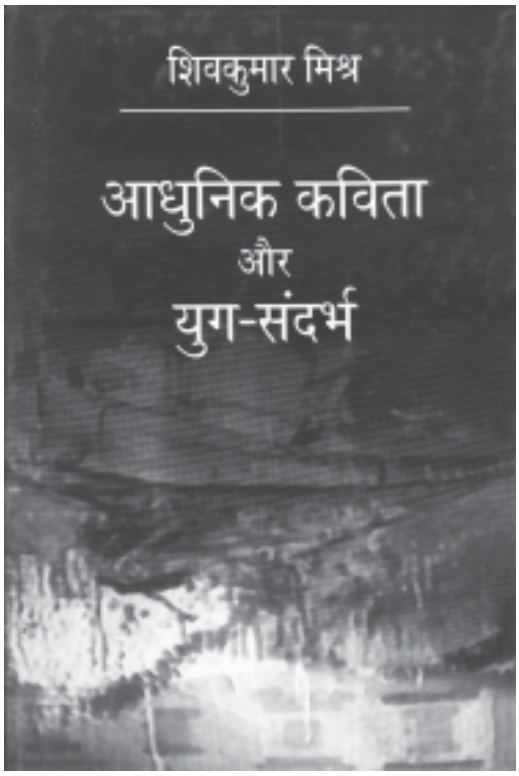

पुस्तक के शीर्षक का दूसरा हिस्सा 'युग-संदर्भ' है। साहित्य की सार्थकता युगीन संदर्भों से जुड़े रहने में है। अपने युग-संदर्भों से कटी हुई रचना साहित्य-जगत में न तो चर्चा के केन्द्र में आ सकती है और न ही अपना कोई स्थान बना सकती है। शिवकुमार मिश्र की यह मान्यता बिल्कुल सही है कि साहित्य या कविता अपने युग की वस्तुगत परिस्थितियों को अनदेखा नहीं कर सकती। लेखक का यह केवल कथन मात्र नहीं है। संग्रह में आए हर रचनाकार को उसने विभिन्न कोणों से युगीन परिप्रेक्ष्य में जांचा-परखा है। इस तरह से प्रस्तुत पुस्तक न केवल रचनाकारों का नवमूल्यांकन है बल्कि युग और युगीन अन्तर्विरोधों के साहित्यिक प्रभाव-दुष्प्रभाव को भी एक नए अंदाज में देखने की कोशिश है।

पुस्तक का पहला लेख है–'कविता की भारतीय पहचान'। इस लेख में लेखक ने कविता की भारतीय पहचान के स्रोतों और संदर्भों पर गंभीर विमर्श किया है। आ. रामचंद्र शुक्ल ने कविता को भावयोग कहा है। इस सूत्र को पकड़ते हुए शिवकुमार मिश्र ने कविता की भारतीयता की बात मात्र विचार के स्तर पर नहीं की है। वे कविता की भारतीयता की परख कवि की अनुभूति और इन्द्रियबोध के आधार पर निर्धारित करने की बात करते हैं। इस संदर्भ में वे संस्कृत साहित्य और उपनिवेशवाद के समय में लिखे गए अंग्रेजी साहित्य की भी बात करते हैं। भारतीय नवजागरण पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। उसे विभिन्न कोणों से देखा गया है। शिवकुमार जी ने इस पुस्तक में भारतीय नवजागरण के चरित्र पर एक लेख केन्द्रित किया है। वैसे इस पुस्तक के अनेक लेखों

के केन्द्र में नवजागरण है। ऐसा लगता है कि नवजागरण, 1857 का स्वाधीनता संग्राम और अपने अतीत पर विचार करते हुए वर्तमान से जूझना-टकराना और भविष्य की सही दिशा का संधान करना आदि मुद्दों को केन्द्र में रखकर इस पुस्तक के लेखों का चयन किया गया है। इसीलिए पुस्तक के लगभग 10 लेखों में ये मुद्दे गंभीर रूप से उठाए गए हैं और हर लेख में एक नयी स्थिति पर विचार-विमर्श किया गया है।

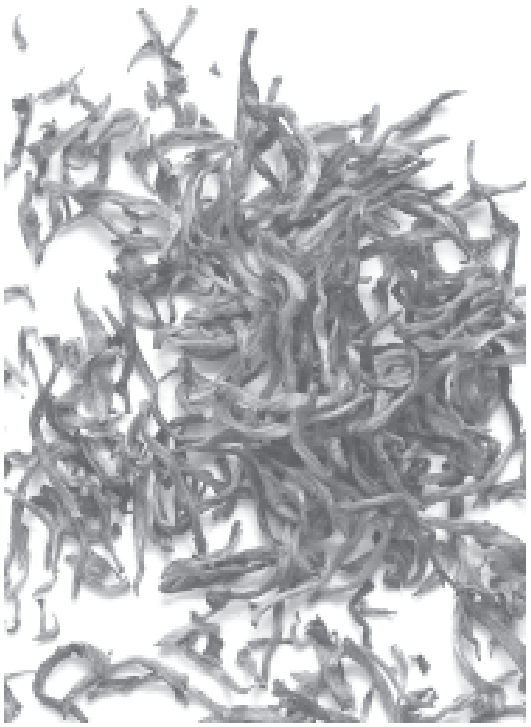

आधुनिक कविता, आधुनिक समय या नए मूल्यों की बात हो और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चर्चा न हो, असंभव है। भारतेन्दु, उनके युग और साहित्य पर अब तक कितना लिखा-पढ़ा जा चुका है, यह बताने की आवश्यकता नहीं रह गई है। भारतेन्दु और उनके युग पर, भारतेन्दु के अन्तर्विरोधों पर इस पुस्तक में एक लेख है–'भारतेन्दु और उनका युग : अंतर्विरोधों के बीच और उनके बावजूद।' भारतेन्दु पर रामविलास शर्मा ने काफी लिखा है। अन्य कई प्रतिष्ठित विद्वानों ने भारतेन्दु के व्यक्तित्व और लेखन पर विचार किया है। भारतेन्दु पर लिखने वाले विद्वान या तो उनके प्रति श्रद्धा भाव से भरे रहे हैं या उनकी कमियों के छिद्रान्वेषी। पहले से ही ठानकर बैठे हुए, स्थापनाओं को निश्चित किए हुए और तुलना तथा श्रेष्ठता के लिए उस युग के किसी अन्य साहित्यकार को सामने रखे हुए भारतेन्दु के नए आलोचकों ने साहित्यिक मूल्यांकन को इस तरह से उलझा दिया है कि उस पर नए सिरे से गंभीर विचार की आवश्यकता बनी हुई है। प्रस्तुत लेख को इसी शृंखला का एक मजबूत लेख कहा जा सकता है। इस लेख में भारतेन्दु का मूल्यांकन उनके और उनके युग के अंतर्विरोधों के बीच से किया गया है और तमाम स्थापनाओं पर पुनर्विचार किया गया है।

मैथिलीशरण गुप्त की चर्चा जिस लेख में हुई है, उसे लेखक ने 'मैथिलीशरण गुप्त : एक नवमूल्यांकन' नाम दिया है। यह एक ऐसा लेख है जिसमें मैथिलीशरण गुप्त के समूचे साहित्यिक कार्य को भारतीय नवजागरण के आलोक में देखने-परखने की कोशिश की गई है। अब तक मैथिलीशरण गुप्त का मूल्यांकन परवर्ती बड़े-बड़े शिखर साहित्यकारों को समक्ष रखकर होता रहा है। शिवकुमार जी ऐसे मूल्यांकन से सहमत नहीं हैं। उनकी राय में गुप्त जी का सही मूल्यांकन उनके समकालीन बड़े रचनाकारों के साथ उन्हें रखकर किया जा सकता है। इसके लिए वे ऐसे दो साहित्यकारों का नाम सुझाते हैं–आचार्य रामचंद्र शुक्ल और मुंशी प्रेमचंद। लेखक की यह सही मान्यता है कि 'गुप्त जी के विचारों तथा उनकी सर्जना की शक्ति तथा सीमाओं का सही बोध हमें इसी प्रकार हो सकता है, प्रसाद, निराला, मुक्तिबोध या आगे के तमाम रचनाकारों के साथ उन्हें रखकर नहीं।' इस पुस्तक के सात लेख छायावाद और छायावादी कवियों के साथ जुड़े हुए हैं। हां, इन लेखों के केन्द्र में भी नवजागरण है। इन सातों लेखों में चार लेख निराला और उनके साहित्य के मूल्यांकन से जुड़े हुए हैं। प्रसाद, पंत और महादेवी पर एक-एक लेख हैं। 'राम की शक्तिपूजा' और 'तुलसीदास' निराला की ऐसी कविताएँ हैं जिन पर लगभग सभी बड़े समीक्षकों ने अलग-अलग कोण से विचार किया है। यहाँ भी इन कविताओं के कुछ विशिष्ट संदर्भों की तलाश है। वैसे भी, निराला पर चार लेख और बाकी कवियों पर एक-एक लेख, क्या आ. रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में छायावाद पर लिखे गए अंश की याद नहीं दिला देते।

'माखनलाल चतुर्वेदी : एक भारतीय आत्मा' नामक लेख में लेखक ने माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य पर विभिन्न कोणों से विचार-विमर्श किया है। माखनलाल चतुर्वेदी की पहचान राष्ट्रप्रेम के भावुक किंतु ओजस्वी कवि के रूप में है। इसी सूत्र को पकड़कर लेखक ने उनके साहित्य की पड़ताल की है। हरिवंश राय 'बच्चन' पर एक लेख देकर लेखक ने नागार्जुन पर तीन लेख दिए हैं। बच्चन पर लिखा गया शिवकुमार मिश्र का लेख खासतौर से कवि की कविताओं पर केन्द्रित है। इसमें 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', हाला, प्याला और मौजमस्ती के प्रतीकार्थों पर विस्तृत बातचीत की गई है। बच्चन का दर्शन उमर खैयाम के दर्शन से किस तरह भिन्न है, इसकी भी चर्चा इस लेख में की गई है। 'रुबाई' शब्द में 'रोबाई' की ध्वनि पाने वाले बच्चन की कविताओं का मूल स्वर क्या है, इस तरफ लेखक ने सारगर्भित संकेत दिया है। नागार्जुन की कविता पर अनेक कोणों से विचार करते हुए शिवकुमार मिश्र उनकी प्रकृति संबंधी कविताओं के विवेचन-विश्लेषण का प्रयास करते हैं। उन्होंने एकदम ठीक लक्ष्य किया है 'नागार्जुन की प्रकृति कविताएँ यों तो प्रकृति के समूचे प्रसार को समेटती हैं, किंतु वर्षा, बादल तथा हिमालय उन्हें सबसे अधिक प्रिय हैं।' नागार्जुन की कविता 'अकाल और उसके बाद' की चर्चा पुस्तक में एक स्वतंत्र लेख का स्थान घेरती है और लेखक ने उसके निहितार्थों को स्पष्ट कर उसे नई अर्थवत्ता प्रदान की है। केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध की रचनाओं के वैशिष्ट्य को भी इस संग्रह में स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। केदारनाथ अग्रवाल को किसान संवेदना के कवि के रूप में व्याख्यायित किया गया है तो मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' के प्रतिपाद्य पर एक नये सिरे से विचार किया गया है। इसी तरह 'एक साहित्यिक की डायरी' को 'युग जीवन का एक ज्वलंत साहित्यिक दस्तावेज' कहकर

उस पर विचार-विमर्श किया गया है।

रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के पत्र-व्यवहार का दस्तावेज है–'मित्र-संवाद'। इस पुस्तक के प्रकाशन से पत्र-विधा को मजबूती प्राप्त हुई, इसमें दो राय नहीं है। जिस समय यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी, चर्चा में थी। पुस्तक का दायरा विस्तृत है। दो मित्रों के इस संवाद में देश-जहान की तमाम बातें हैं। शिवकुमार मिश्र का लेख 'साक्षी है शताब्दी के छः दशकों का समय' इसी मित्र-संवाद पर केन्द्रित है। शिवकुमार जी ने मित्र-संवाद के हर एक पहलू पर ध्यान दिया है और उसके हर पक्ष पर इतनी बारीक दृष्टि डाली है कि पुस्तक का हर कोना हमारे सामने आ गया है।

पुस्तक का अंतिम आलेख है–'एक पूरी सदी की यात्रा : चुनौतियों के बीच हम और हमारा समय'। आठ पृष्ठों में शिवकुमार जी ने पिछली सदी और उसकी चुनौतियों को जिस तरह से समेटा है, वह काबिले-तारीफ है। लेखक ने बीसवीं शताब्दी को आकांक्षित और अनाकांक्षित की मिश्रित उपलब्धियों वाली सदी कहा है। इस किताब के अंतिम हिस्से को 'और अंत में' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। यह हिस्सा काफी महत्वपूर्ण है। इसमें शिवकुमार जी ने त्रिलोचन शास्त्री से अपनी बातचीत का चयनित अंश दिया है। इस साक्षात्कार में आप देखेंगे कि तमाम ऐसे मुद्दों का खुलासा है जो आरोप की तरह त्रिलोचन शास्त्री पर चस्पा किए गए थे। इसी तरह 'प्रसंगतः शमशेर की कविता पर एक विमर्श' शीर्षक से शमशेर की कविता पर नन्दकिशोर नवल द्वारा कसौटी-3 में की गई टिप्पणी पर शिवकुमार जी के विचार हैं। धूमिल का एक अप्रकाशित आत्मकथ्य भी इस पुस्तक में टाँक दिया गया है।

कुल मिलाकर यह पुस्तक आधुनिक कविता के युगीन जद्दोजहद को परिपूर्णता से रेखांकित करती है।

आधुनिक कविता और युग-संदर्भ/ शिवकुमार मिश्र/ स्वराज प्रकाशन, 7114, गुप्ता लेन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

भारतीय भाषा केन्द्र, ज.ने.वि., नई दिल्ली-110067

आ ल ो च ना

आलोचना की सामाजिक भूमिका

रविभूषण

विगत दो दशकों से जीवन, समाज, भाषा, साहित्य, संस्कृति, विचार-सिद्धांतादि को आवारा-जुआड़ी वैश्विक पूंजी, नव-उपनिवेशवाद, अमरीकी साम्राज्यवाद, उपभोक्तावाद, अंतवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर संरचनावाद, कॉरपोरेट संस्कृति, उग्र राष्ट्रवाद, सम्प्रदायवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एवं नई प्रौद्योगिकी ने अपने हित में प्रभावित करना आरम्भ किया है। अब वे सबको अपने अनुसार निर्देशित-संचालित करने को तत्पर हैं। 'संकट के बावजूद' मैनेजर पांडेय ने इस विध्वंसक दौर में अडिग-अविचल रहकर अपने विचार और सिद्धांत नहीं बदले हैं। उनकी नई आलोचना पुस्तक 'आलोचना की सामाजिकता' इस तथ्य को और पुष्ट करती है। पुस्तक 1980 से 2004 की अवधि के सोलह वर्षों में लिखित छब्बीस निबंधों के चार खंडों–आलोचना का समाज, संस्कृति की राजनीति, कविता का समय और उपन्यास का लोकतंत्र में विभाजित है। पूंजीवाद के इस वर्तमान दौर को मैनेजर पांडेय 'सामाजिक की मृत्यु' के रूप में देखते हैं। आज आवश्यकता इन खतरों को पहचान-समझ कर उनसे संघर्ष करने की है, न कि उनकी अधीनता स्वीकार कर समाज-निरपेक्ष होकर अपनी सामाजिकता नष्ट करने की।

हिन्दी आलोचना आरम्भ से 'रचना की सामाजिकता' पर विचार करती रही है। हिन्दी आलोचना का जन्म और विकास राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हुआ। रामचन्द्र शुक्ल ने सदैव कलावाद और रहस्यवाद का खंडन किया। रामचंद्र शुक्ल पर लिखे दो निबंधों 'रहस्यवाद का खंडन और लोकमंगल की स्थापना' (1985) एवं 'काव्य भाषा और रामचंद्र शुक्ल' (1986) में उन्होंने ने शुक्लजी द्वारा प्रत्येक कला-दृष्टि के विरोध के साथ उनके भाषा-चिंतन को 'साहित्य-विवेक' से और 'साहित्य विवेक' को 'उनकी व्यापक सामाजिक चेतना' से 'अनुशासित' माना है। रामचंद्र शुक्ल

ने रहस्यवाद, रीतिवाद, कलावाद, सौंदर्यवाद और कल्पनावाद की आलोचना की। उनकी आलोचना करनेवाले हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक कम नहीं हैं। पांडेय जी के अनुसार ''रहस्यवाद और कलावाद के विरुद्ध संघर्ष में एक कदम आगे और दो कदम पीछे चलते दिखाई देते हैं।'' रामचंद्र शुक्ल साहित्य के साथ भाषा की सामाजिकता के भी समर्थक थे। आज भाषा और साहित्य की सामाजिकता पर ध्यान देनेवाले आलोचक कम हैं, ऐसी स्थिति में इन आलोचकों का आलोचना की सामाजिकता पर ध्यान कैसे जाए? आलोचकों ने रचना की सामाजिकता पर एक समय अधिक ध्यान दिया था। आज आलोचना का एक हिस्सा संबंध, व्यवसाय और बाजार के साथ है। आलोचना को 'उत्तर-आधुनिक' बनानेवाले, साहित्य की स्वायत्तता की बार-बार घोषणा करनेवाले और साहित्य को अन्य ज्ञानानुशासनों से न जोड़नेवाले यथास्थिति के समर्थक और बदलाव तथा परिवर्तनकामी शक्तियों के विरुद्ध हैं। आज आलोचना कर्म और दायित्व पहले से कहीं अधिक बड़ा है। आलोचना रचना की सामाजिकता की व्याख्या कर देने से ही अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकती। पुस्तक की 'भूमिका' में उन्होंने ने एडवर्ड सईद के शब्दों 'सत्ता के सामने सच कहने का साहस' को उद्धृत किया है। रचना और आलोचना में एक अंतर यह है कि रचना में जहाँ स्पष्ट कथन कम होता है, वहाँ आलोचना अपनी स्पष्टता-सुस्पष्टता से अलग नहीं हो सकती। सत्ता राजनीति की ही नहीं धर्म, साहित्य और संस्कृति की भी होती है। सत्ता के समक्ष सच कहने के साहस से आलोचना की सामाजिकता जुड़ी हुई है।

आलोचकों की आलोचना-दृष्टि उनकी साहित्य, जीवन और समाज-दृष्टि से जुड़ी है। जिस प्रकार साहित्य-रचना 'पतंगबाजी' नहीं है, उसी प्रकार आलोचना भी क्रीड़ा-कौतुक नहीं है। 'आलोचना की सामाजिकता' निबंध 2002 का है, पर 1980 के एक निबंध 'प्रासंगिकता का प्रश्न और प्रेमचंद की प्रासंगिकता' में ही उन्होंने कला और साहित्य-संबंधी निर्मल वर्मा की अवधारणा का खंडन किया था। निर्मल वर्मा ने प्रेमचंद जन्मशती वर्ष में लिखे अपने एक लेख 'कला में प्रासंगिकता' में कला और साहित्य की सामाजिकता नहीं स्वीकारी थी। निर्मल वर्मा ने 'शब्द और स्मृति' में शब्द का संबंध केवल स्मृति से माना था। इस दृष्टि के विरोध में पांडेय जी ने 'शब्द और कर्म' में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित किया था। 'शब्द और कर्म' (1981) उनकी पहली पुस्तक है, जिसकी भूमिका में आलोचना को 'रचनाकर्म की तरह ही एक सामाजिक कर्म और विचारधारात्मक संघर्ष का साधन' माना गया था। 'आलोचना की सामाजिकता' पर विस्तार और गहराई से भले इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में उन्होंने विचार किया हो, पर उनकी आलोचना-संबंधी यह दृष्टि आरम्भ से है। वैश्विक पूंजीवाद की विचारधारा ने व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया है और 'इतिहास का अंत' की घोषणा की है। संरचनावाद, उत्तर संरचनावाद और उत्तर आधुनिकता ने साहित्य को समाज और इतिहास से अलग कर दिया है। यथार्थवाद के लिए उसके यहाँ कोई स्थान नहीं है। फूको, बार्थ और क्रिस्तोवा द्वारा 'यथार्थवाद' को 'बुर्जुआ षड्यंत्र' कहने से वे असहमत हैं। वे ब्रेख्त का कथन उद्धृत करते हैं कि यथार्थवाद मात्र साहित्यिक दृष्टि और पद्धति न होकर एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी है। उनकी चिंता में केवल साहित्य और उसके विविध रूप ही नहीं, लोकतंत्र भी है। उनकी दृष्टि प्रचलित एवं बहुमान्य दृष्टियों से कई स्थलों पर अलग है। सभी निबंधों से इसकी पुष्टि होती है। 'उपन्यास और लोकतंत्र' निबंध में वे उपन्यास को मात्र एक साहित्य-रूप न मानकर 'जीवन जगत को देखने की एक विशेष दृष्टि' मानते हैं। इसी प्रकार लोकतंत्र उनके लिए 'केवल एक राजनीतिक व्यवस्था और शासन-पद्धति' न होकर एक ऐसी 'मानसिकता' है, ''जो सहिष्णुता की संस्कृति, दूसरों का सम्मान, दूसरों के अंतरों का स्वीकार, विचारों की अनेकता का आदर, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और संवाद की तत्परता विकसित करती है'', जाहिर है, ऐसी दृष्टि मात्र कृति-केन्द्रित होने से नहीं बनती। स्वाभाविक है कि मैनेजर पांडेय सेमुअल डेनेली के विचार से सहमत हों। डेनेली आज के समय में यथार्थ को 'राजनीति का पर्याय' मानते हैं।

रचना और आलोचना दोनों को व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों में रखकर देखना-परखना आवश्यक है। पांडेयजी आलोचना का संबंध मात्र रचना से नहीं मानते। अधिसंख्य निबंधों में आलोचना संबंधी उनके विचार प्रकट हैं। उनकी आलोचना रचना के साथ व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से जुड़ी है। सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ बदलती रहती हैं। मार्क्सवादी आलोचना-सिद्धांत से प्राप्त 'समर्थ आलोचना-दृष्टि' प्राप्त कर वे रचना एवं आलोचना को स्वयं 'देखते-परखते' हैं। इसी कारण उनकी आलोचना अन्य मार्क्सवादी आलोचकों की तुलना में जीवंत, उपयोगी और सार्थक है। वे आलोचना के संकट को 'व्यापक सांस्कृतिक संकट' से जोड़ते हैं। अन्य आलोचक आलोचना का सम्बन्ध केवल रचना से जोड़ते हैं। जबकि बकौल पांडेय रचना से आलोचना का महत्व इसलिए बड़ा है कि 'रचना का संबंध व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से होता है, लेकिन आलोचना का संबंध रचना से भी होता है और व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से भी। उसका संबंध कलात्मक संवेदनशीलता से होता है और सामाजिक संवेदनशीलता से भी।' ('नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि')

पांडेयजी आलोचना को अकादमिक और सर्जनात्मक रूपों में न बाँटकर उसे सार्थक और निरर्थक रूप में देखते हैं। भूमंडलीकरण के दौर में उनकी आलोचना अधिक प्रखर और धारदार हुई है। आलोचना पर उनके तीन निबंध हाल के वर्षों के हैं। 'आलोचना : सार्थक और निरर्थक' (2000), 'आलोचना की राजनीति' (2001) और 'आलोचना की सामाजिकता' (2002) निबंधों में उनकी बृहत् चिंता आलोचना संबंधी है। 'आलोचना का समाज' खंड पुस्तक का पहला खंड है और इस खंड का पहला निबंध है–'आलोचना की सामाजिकता'। एक वैचारिक स्थापना के रूप में यह हाल का निबंध है पर जैसाकि पहले कहा जा चुका है, मैनेजर पांडेय के आलोचना-कर्म में यह आरम्भ से विद्यमान है। वे साहित्य को 'समाज' और 'इतिहास' से जोड़कर देखते रहे हैं। 'साहित्य और इतिहास-दृष्टि' का प्रकाशन वर्ष 1981 है और 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' 1989 में प्रकाशित हुई थी। ग्यारह वर्ष बाद पुनः अपने एक निबंध 'साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की जरूरत' (2000) में वे साहित्य-रचना को 'सामाजिक कर्म' मानकर रचनाकार की तरह

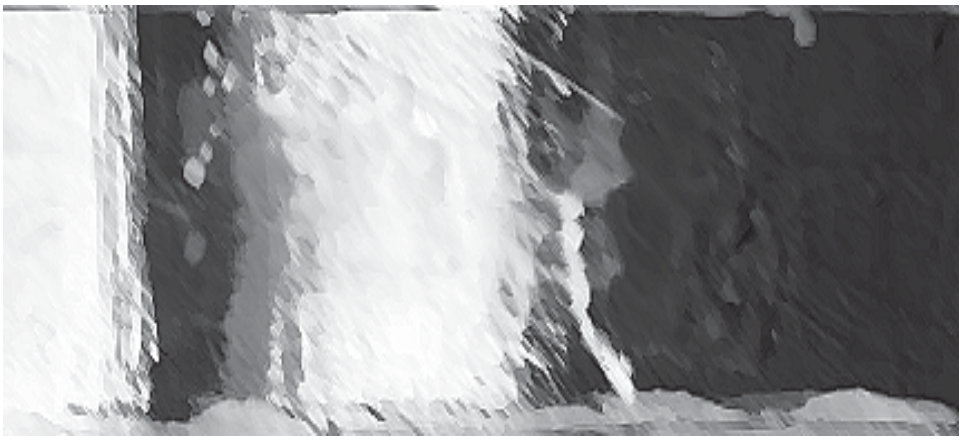

ही आलोचक द्वारा अपनी आलोचना में सामाजिक यथार्थ की पुनर्रचना पर बल देते हैं। वे रचना और आलोचना दोनों की सार्थकता समाज सापेक्षता में देखते हैं। हिन्दी आलोचना की प्रचलित पद्धतियों में दो प्रमुख हैं–रचना की साहित्यिकता की खोज और रचना की सामाजिकता की व्याख्या। बड़ी रचना में दोनों की एकता विद्यमान होती है। पांडेयजी रचना की साहित्यिकता और उसकी सामाजिकता को एक-दूसरे से अलग कर नहीं देखते। आलोचना के लिए यह आवश्यक है कि वह ''रचना की साहित्यिकता और सामाजिकता के बीच अंतरंग संबंध की पहचान करे''।

हिन्दी आलोचना और उसके संकट पर विचार करनेवाले आलोचक उसे 'व्यापक सांस्कृतिक संकट' से नहीं जोड़ते।

मुक्तिबोध की पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' पर लिखित निबंध 'वह बात उनको बहुत नागवार गुजरी है' (1988) में मुक्तिबोध द्वारा भारतीय समाज के विकास की विविध प्रक्रियाओं में से सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं की तुलना में सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के महत्व पर उनके विचार को रेखांकित करते हुए उन्होंने मुक्तिबोध की इतिहास-दृष्टि से अवगत कराया है। वे 'नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि' (1977) निबंध में ''हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के विकास में मुक्तिबोध के मौलिक और महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक चिंतन'' का उल्लेख करते हैं और मुक्तिबोध द्वारा 'कामायनी' के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को 'महत्वपूर्ण' मानते हुए भी इसलिए 'अधूरा' मानते हैं कि वहाँ कलात्मक सौन्दर्य का कोई विश्लेषण नहीं है। ('साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की जरूरत')

'आलोचना' उनकी दृष्टि में 'एक विचारधारात्मक गतिविधि' है। 'आलोचना की राजनीति' (2001) निबंध में वे 'आलोचना के राजनीतिक दबाव' पर भी विचार करते हैं। आलोचक आलोचना की राजनीति छुपाते हैं। मैनेजर पांडेय अपनी आलोचना से राजनीति को छुपाने का कार्य नहीं करते। वे जोड़-तोड़, घालमेल और संबंधवाद-अवसरवाद के विरुद्ध हैं। आलोचना को गम्भीर कर्म मानकर ही आलोचक अपने सामाजिक-राजनीतिक दायित्व का निर्वाह कर सकता है। आलोचक में 'रचनात्मक संवेदनशीलता' के साथ 'सामाजिक संवेदनशीलता' होती है, जो आलोचना को 'सामाजिक' बनाती है। मार्क्सवादी आलोचक और गैर-मार्क्सवादी आलोचक में मुख्य अंतर यह है कि मार्क्सवादी आलोचक का 'आलोचनात्मक संघर्ष' मात्र साहित्य के लिए न होकर ''समाज-व्यवस्था के बुनियादी बदलाव के लिए होता है।'' स्वतंत्र भारत में नक्सलबाड़ी आन्दोलन समाज-व्यवस्था के बुनियादी बदलाव से जुड़ा था। इस आंदोलन ने साहित्य और आलोचना दोनों को प्रभावित किया। हिन्दी के कई मार्क्सवादी आलोचक आलोचना को सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष नहीं मानते। 'नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि' (1977) निबंध में उन्होंने आलोचना-29 के सम्पादकीय की सही आलोचना की है। इस निबंध में उन्होंने आलोचना की सार्थकता को उसकी सामाजिकता से जोड़ा था–''आलोचना का सौंदर्य अगर उसकी साहित्यिकता पर निर्भर है तो उसकी सार्थकता सामाजिकता पर।'' इस निबंध में वे आलोचना-कर्म और दायित्व पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं। उन्होंने सदैव सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को महत्व दिया है। नामवर सिंह सांस्कृतिक परिवर्तन के बिना राजनीतिक परिवर्तन कठिन मानते हैं। पांडेयजी इसे ''प्रकारान्तर से बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया में ऊपरी ढांचे को आधार से अधिक महत्व देना मानते हैं। उन्होंने नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि में आनेवाले बदलावों की चर्चा की है, पर उन बदलावों के कारणों पर अधिक विचार नहीं किया है। 'इतिहास और आलोचना' (1957) के बाद 'कविता के नये प्रतिमान' (1968) में आये वैचारिक बदलावों के पीछे अवश्य कुछ कारण रहे होंगे। उन्होंने अपने निबंध में 'सृजनशीलता' के संबंध में नामवर सिंह की बदली दृष्टि का उल्लेख किया है। नामवर जी 'इतिहास और आलोचना' में 'सृजनशीलता' को 'अनुभूति से संबद्ध' मानते थे। दस वर्ष बाद 'कविता के नये प्रतिमान' में 'सृजनशीलता' को वे 'काव्य-भाषा की विशेषता' कहने लगे। मैनेजर पांडेय के अनुसार नामवर की इस आलोचना-दृष्टि की 'विसंगति और विडम्बना' का कारण 'बौद्धिक क्षेत्र में दुश्मन के ही हथियार से लड़ना' है। सत्तर के दशक में 'लोकजीवन की प्राणदायिनी शक्ति' में नामवर की आस्था न रही। पांडेय जी में यह आस्था कायम है। चौबीस वर्ष बाद (2001) 'नामवर के निमित्त' के अवसर पर दिये अपने वक्तव्य में उन्होंने 'दूसरी परम्परा' को देखने-समझने की बात 'आलोचनात्मक विवेक की परम्परा' के रूप में की है। दूसरी परम्परा को पहली परम्परा के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है। उनका बल 'आलोचनात्मक विवेक' पर है। उनका स्पष्ट मत है ''दूसरी परम्परा को अगर आलोचनात्मक विवेक की परम्परा के रूप में विकसित करना है तो विचार और व्यवहार के स्तर पर सहमति और समर्पण के बदले परम्परावाद तथा भूमंडलीकरण के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष की चेतना का विकास आवश्यक होगा (नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि; पुनश्च, 2001)

वे मानते हैं कि 'आलोचनात्मक विवेक' में 'आलोचक का सामाजिक विवेक' होता है, जो उसके वर्तमान-बोध से जुड़ा है। यह वर्तमान बोध भी सभी आलोचकों में, मार्क्सवादी आलोचकों में भी, एक समान नहीं होता।

प्रश्न वर्गीय दृष्टि का भी है। आवश्यक है कि आलोचना रचनाओं से स्वतंत्र और कभी-कभार ही सही उसके समानान्तर अपनी सामाजिक दृष्टि भी निर्मित करे। मार्क्सवादी आलोचना जनान्दोलनों की उपेक्षा कर जड़ और निर्जीव हो जाएगी। उसकी जीवतंता और गतिशीलता का संबंध सामाजिक जीवंतता और गतिशीलता से है। यही आलोचना की एक हस्तक्षेपकारी भूमिका है। वे 'आलोचना की दृष्टि और दिशा के निर्माण में जनआन्दोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका' देखते हैं। यह सच है कि फिलहाल कोई व्यापक जनान्दोलन नहीं है, पर दृष्टिवान और 'कंसर्न' आलोचक छोटे और स्थानीय स्तर पर ही सही, जनान्दोलनों, प्रतिरोधों और संघर्षों से अपना मुँह नहीं मोड़ते। नामवर सिंह आलोचना को 'अपने समय की बौद्धिक उपस्थिति' कहते हैं और मैनेजर पांडेय 'सतर्क बौद्धिकता' की बात करते हैं। उनके अनुसार 'सतर्क बौद्धिकता' में 'परम्परा की स्मृति, वर्तमान का बोध और भविष्य की चिंता' होती है, जिसका लक्ष्य 'मनुष्य की स्वाधीनता' है। मनुष्य की स्वाधीनता को केन्द्र में रखने के कारण वे दलित, नारी और आदिवासी जीवन-लेखन पर विचार करते हैं। वे वामपंथी रूढ़िवाद, स्तालिनवादी मार्क्सवाद और 'ऑफिशियल मार्क्सवाद' के विरोधी हैं। 'लोकप्रिय साहित्य और मार्क्सवाद' (1991) निबंध में उन्होंने मार्क्स द्वारा 'केवल समाज की महान घटनाओं और साहित्य की महान रचनाओं' पर ध्यान केन्द्रित न किये जाने की बात कही है। मार्क्स समाज की समग्र वास्तविकता एवं समग्रता को समझने के लिए समाज की प्रत्येक घटना और क्रिया पर दृष्टि डालते थे। मैनेजर पांडेय 'नर्मदा बचाओ' और वैसे अन्य आन्दोलनों पर ध्यान देते हैं। वे 'ज्ञान का विकास' केवल एकांत साधना से न मानकर सामाजिक आन्दोलनों से भी मानते हैं। आलोचना साहित्य की सामाजिकता की केवल पहचान ही नहीं करती, वह ऐसे आन्दोलनों पर ध्यान देकर अपनी 'सामाजिकता का विस्तार' भी करती है। इस पुस्तक के निबंधों में 'सामाजिकता की पहचान' के साथ 'सामाजिकता का विस्तार' भी है।

उनके लिए समाज, संस्कृति और राजनीति सर्वप्रमुख है। कविता और उपन्यास वाले खण्डों से 'आलोचना का समाज' और 'संस्कृति की राजनीति' खण्डों का बड़ा होना अकारण नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल 'आधुनिक' होने के लिए 'समय और समाज के प्रति सजगता' आवश्यक समझते थे। पांडेयजी महेश नारायण की 'स्वप्न' कविता को 'हिन्दी की पहली आधुनिक कविता' इसलिए मानते हैं कि उसमें ''भारत की परतंत्रता का बोध और स्वतंत्रता की चेतना व्यक्त हुई है'' ('हिन्दी की पहली आधुनिक कविता' 2004) वे 'स्वाधीनता आन्दोलन के कवि और कार्यकर्ता' नाथूराम शर्मा 'शंकर', जिनकी ओर अब किसी हिंदी आलोचक का ध्यान भी नहीं जाता, की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि द्विवेदीयुगीन कवि होकर भी वे महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से मुक्त थे और समाज को जगाने के लिए 'तीखी भाषा में कड़वा सच' कहते थे। रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'उद्दंडता' कहा था और मैनेजर पांडेय हिन्दी काव्य परंपरा में कबीर से धूमिल तक ऐसी उद्दंडता देखते हैं। ('परम्परा और नयी चेतना की एकता के कवि : शंकर', 1986) 'आलोचना की सामाजिकता' पुस्तक में रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचंद और नागार्जुन पर दो-दो निबंध हैं। 'नागार्जुन और नयी पीढ़ी' (1987) निबंध में समाज से नये साहित्य के जन्म लेने की बात है और नागार्जुन को 'जनान्दोलनों का अकेला कवि' कहा गया है, जो सच है। नागार्जुन हिन्दी के विशिष्ट और महत्वपूर्ण कवि इसलिए हैं कि उन्होंने 'काव्य की भूमि और भूमिका का विस्तार' किया है।

आलोचना की समाज-सापेक्ष सत्ता में मैनेजर पांडेय का आरंभ से विश्वास है। उनका आलोचना-कर्म उनकी इसी दृष्टि से संचालित है। अपनी स्पष्ट और बेबाक दृष्टि से उन्होंने हिन्दी आलोचना को दृष्टि-सम्पन्न किया है। स्तालिनवादी मार्क्सवादियों की तरह वे भाषा को विचारधारा से मुक्त नहीं मानते। उनके अनुसार भाषा विचारधारा के वर्चस्व का साधन भी बन जाती है। 'संस्कृति की राजनीति' खंड के तीन निबंध भाषा-संबंधी हैं। 'भाषा की राजनीति' (1987) राजनीति की भाषा (1988) और 'भाषा की रात में मनुष्य' (1983) निबंधों में वे भाषा और राजनीति के अन्तःसंबंध पर विचार करते हैं। 'राजनीति की भाषा' निबंध में समाज को 'भाषा की जन्मभूमि और कर्मभूमि' मानने के कारण ही शब्द की विश्वसनीयता का गहरा संबंध मनुष्य के आचरण से माना गया है। वे शब्द की विश्वसनीयता को अर्थ की विश्वसनीयता से और अर्थ की विश्वसनीयता को कर्म की विश्वसनीयता से जोड़ते हैं। 'भाषा की राजनीति' में वे चुनावी राजनीति द्वारा धर्म के साथ भाषा के भी निरन्तर उपयोग (दुरुपयोग!) की ओर ध्यान दिलाते हैं। हिन्दी कवियों में भाषिक छन्द को धूमिल ने सर्वाधिक पहचाना था। 'भाषा की रात में मनुष्य' निबंध में भाषा की रात के दार्शनिक और कवियों का ही नहीं, आलोचकों का भी उल्लेख है। मानव-विरोधी समाज-व्यवस्था में शब्दों के अर्थ की दुर्गति की जाती है। राजनीति के रूप और उद्देश्य के अनुसार भाषा का भी स्वरूप बनता-बिगड़ता है।

कविता और उपन्यास पर उनकी सर्वाधिक दृष्टि है। इन दो प्रमुख साहित्य-रूपों में कविता प्राचीन है और उपन्यास आधुनिक। हिन्दी आलोचना में अशोक वाजपेयी ने कविता और आलोचना का अलग जनतंत्र स्थापित कर दोनों को समाज से अलग किया है। उन्हें कविता, उपन्यास और आलोचना की सामाजिकता से सरोकार नहीं, बैर है। जनवरी 1987 में उन्होंने भोपाल में 'आलोचना समवाय' का आयोजन किया था। यह आयोजन बड़े ताम-झाम के साथ रुक-रुक कर जारी है। अभी रायपुर में एक आयोजन के दो सत्र आलोचना पर केन्द्रित थे–'समकालीन आलोचना के हाव-भाव' और 'आलोचना का प्रजातंत्र'। कविता और उपन्यास का प्रजातंत्र भी इसी आलोचना-दृष्टि से संबद्ध है। पांडेयजी 'उपन्यास और लोकतंत्र' (2004) पर गंभीर विचार करते हैं। उनकी चिन्ता में उपन्यास और लोकतंत्र दोनों हैं। उपन्यास और लोकतंत्र को अब तक जिस दृष्टि-विशेष से देखा जाता रहा है, उससे सर्वथा अलग दोनों को व्यापक दृष्टि से देखने का वे मार्ग बताते हैं। उनके आलोचनात्मक चिंतन में इतिहास और समाज दोनों की संयुक्त उपस्थिति है। अब आलोचना की जो नयी 'उत्तर आधुनिक' पद्धतियाँ हैं, वे इन दोनों का निषेध करती हैं। समाज और इतिहास दोनों एक दूसरे से जुड़े हैं, जिनके संबंध-विच्छेद की कल्पना नहीं की जा सकती। वे उपन्यास की संरचना में लोकतंत्र की तलाश करते हैं, जो 'दृष्टियों और स्वरों की अनेकता' से ही संभव है। उपन्यास और लोकतंत्र के संबंध में उनके विचार अन्य आलोचकों एवं

राजनीतिक चिंतकों से सर्वथा भिन्न हैं। दृष्टि की यह नवीनता समाज से गहरे स्तरों पर जुड़कर ही नहीं सदैव उसके साथ रहकर ही संभव हो सकी है, उपन्यास को 'धर्मनिरपेक्ष आख्यान' कहकर वे आलोचनात्मक चिंतन का दायरा व्यापक करते हैं, जो उनके यहाँ सर्वत्र है। कट्टरतावाद और बर्बर पूंजीवाद के कारण उपन्यास और लोकतंत्र दोनों संकट में हैं। संकट की वास्तविक पहचान और उससे निकलने के रास्ते देखना दिखाना भी आलोचकों का दायित्व है।

हिन्दी आलोचना अपने सामाजिक दायित्व के निर्वाह के साथ ही विकसित और विश्वसनीय हो सकती है। निन्दा और प्रशंसा से वह अपना विकास नहीं कर सकती। वे रचना, समय और समाज को उसकी समग्रता में देखते हैं। बड़ा रचनाकार और बड़ा आलोचक मानव-जीवन को समग्रता में देखता है। आज का भारतीय समाज पहले से भिन्न है। पूंजीवादी संस्कृति ने मानव-जीवन और सभ्यता के समक्ष ही नहीं, प्रकृति के समक्ष भी संकटों का महाजाल फैला रखा है। वे आज की युवा पीढ़ी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती 'साहित्य की सामाजिकता की रक्षा' की मानते हैं। 'आज का भारतीय समाज और युवा पीढ़ी की रचनाशीलता' (2002) निबंध में उन्होंने आज के अधिसंख्य चर्चित-प्रमुख कवियों, कहानीकारों और उपन्यासकारों की चर्चा की है। उनके अनुसार 'युवा पीढ़ी में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को समझने की चिंता अधिक है और मानव-जीवन को समग्र रूप में देखने की प्रवृत्ति कम।'' आज के समाज की दशा से युवा रचनाकार सुपरिचित हैं। पर वे वर्ग, दलित, आदिवासी एवं स्त्री-संघर्ष से उत्पन्न मुक्ति-चेतना और नये सपनों की पहचान की चुनौती युवा रचनाकारों के सामने मानते हैं।

उनकी चिंता साहित्यिक आलोचना की नहीं, 'आलोचना की संस्कृति की रक्षा' की है। आलोचना को अब तक साहित्यिक रूप में ही देखा जाता रहा है, जबकि आलोचना का अपना एक सांस्कृतिक चरित्र है। आज वैश्विक पूंजीवाद ने विविध रूपों और माध्यमों से जिस संस्कृति को जन्म दिया है, वह जीवन का संहार कर रही है। ''आज जबकि संस्कृति राजनीति को निगल रही है, तब आलोचना केवल साहित्यिक और सांस्कृतिक ही नहीं, राजनीतिक भी होगी।'' ('आलोचना की सामाजिकता') उन्होंने आलोचना को इतने व्यापक फलक पर केवल देखने का ही नहीं, उसे सार्थक बनाने का काम किया है। एकध्रुवीय विश्व में अब कई भारतीय मार्क्सवादी भी 'वर्ग' की बात नहीं करते। लेकिन वे समाज, साहित्य-संसार, लेखक, पाठक सबमें 'वर्ग का अस्तित्व' देखते हैं। वे भाषा का वर्ग से संबंध जोड़ते हैं और रचना में भी 'वर्ग के होने की संभावना' देखते हैं। इस वर्गीय दृष्टि और नज़रिये के बाद आलोचना वर्ग-मुक्त नहीं हो सकती। ''ऐसी स्थिति में आलोचना में वर्ग की बात करना कुफ्र क्यों है?''

वे 'आलोचना' को 'साहित्यिकता' और 'विशेषज्ञता' में सीमित नहीं करते। ऐसी आलोचना समाज के लिए ही नहीं, साहित्य के लिए भी लाभकारी नहीं हो सकती। आलोचनात्मक सोच की प्रक्रिया और उसके उद्देश्य से आलोचना की शैली और भाषा भी निर्धारित होती है। हिन्दी में आलोचना-भाषा को दुरुह, जटिल और 'संध्या-भाषा' बनाने वाले बढ़ रहे हैं। सुधीश पचौरी के उदाहरण से उन्होंने इसे स्पष्ट किया है। 'आलोचना की सामाजिकता' के ह्रास के आंतरिक और बाह्य दोनों कारणों पर विचार किया है। उनके अनुसार आलोचना की सामाजिकता को सीमित करने वाले तीन दृष्टिकोण हैं। आलोचना नैतिक प्रश्नों से न उलझकर, व्यक्तिगत विद्वेष को स्थान देकर–'अतिरंजित प्रशंसा' और 'रक्तरंजित निन्दा' कर अपनी सामाजिकता नष्ट करती है। साहित्य की स्वायत्तता, उत्तर आधुनिकता आदि आलोचना को सीमित करने वाले दृष्टिकोण हैं।

मैनेजर पांडेय ने इन दृष्टिकोणों का विरोधकर आलोचना की भूमि और भूमिका का विस्तार किया है। 'आलोचना की सामाजिकता' पुस्तक से हिन्दी आलोचना को दृष्टि और दिशा प्राप्त हुई है।

आलोचना की सामाजिकता/ मैनेजर पांडेय/ वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : 350.00रु.

---

204 रामेश्वरम्, साउथ ऑफिस पाड़ा, डोरंडा, राँची-834002 (झारखंड), मो. 09431103960

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

चार खंडों में

हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास

(स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन

नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, वैस्ट गोरख पार्क,

शाहदरा, दिल्ली-110032

जीवनी

अभी भी इन्तजार है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बॉसवेल का

सरजू प्रसाद मिश्र

विदेशी भाषा की अन्धदासता एवं हिन्दी को गवारूँ भाषा के रूप में उपेक्षा का शिकार बनाए जाने के उस कालखण्ड में रामचन्द्र शुक्ल का उदय हुआ, जब भारतीयता से ओत-प्रोत मुट्ठीभर विचारक उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देख रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जो नींव तैयार की थी, उस पर भवन-निर्माण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य एक ऐसे व्यक्ति ने किया जो पहले एक ड्राइंग टीचर मात्र था। हिन्दी साहित्य का इतिहास, सूर, तुलसी तथा जायसी के काव्य की समीक्षाएँ तथा 'चिन्तामणि' के निबन्ध शुक्ल जी को समीक्षक एवं ललित लेखक दोनों रूपों में प्रतिष्ठित करते हैं। ऐसे व्यक्ति की प्रामाणिक जीवनी अभी तक नहीं लिखी जा सकी है। वी.एस.नॉयपाल ने अपने एक व्याख्यान में कहा था–'लेखकों के जीवन से सम्बन्धित शोध एक वाजिब विषय है। सत्य को छिपाने की कोशिश नहीं होनी चाहिए। यह निर्विवादित सत्य है कि लेखक के सम्पूर्ण जीवन का विवरण उसके कृतित्व की तुलना में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति के रूप में मान्य होगा'। अंग्रेजी में पैट्रिक फ्रेंच ने नॉयपाल की प्रामाणिक जीवनी ('द वर्ल्ड इज वाट इट इज' प्रकाशक, पिकाडोर) लिखी है। जीवनीकार ने अपने नजरिए को 'भूमिका' में स्पष्ट कर दिया है–'जीवनीकार का लक्ष्य निर्णय देना नहीं, बल्कि अपने विषय को निष्ठुरता के साथ जस का तस पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना होना चाहिए।' पैट्रिक फ्रेंच नॉयपाल के लेखकीय व्यक्तित्व की महानता में कोई कतर- ब्योंत न करते हुए उन्हें देवता बनाने की कोशिश से भी बचते हैं और निर्णय देने का काम पाठकों पर छोड़ देते हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास के आग्रह के बावजूद शुक्ल जी ने अपनी आत्मकथा लिखना उचित नहीं समझा। प्रेमचन्द सम्पादित 'हंस' के आत्मकथा विशेषांक (जनवरी-फरवरी 1932 ई.) में प्रकाशित ''प्रेमधन' की छाया-स्मृति' संस्मरण में अपने जीवन की बहुत थोड़ी बातें लिखी हैं। इनके निधन के उपरान्त चन्द्रशेखर शुक्ल (जो शुक्ल जी के अनुज हरिश्चन्द्र शुक्ल के पुत्र थे) ने आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय की प्रेरणा से शुक्ल जी की जीवनी लिखी, जो सन् 1962 (संवत् 2018) में वाणी वितान, बनारस से प्रकाशित हुई। चूंकि पुस्तक प्रकाशन के पूर्व ही लेखक का निधन हो गया था, इसलिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादन में यह पुस्तक निकली।

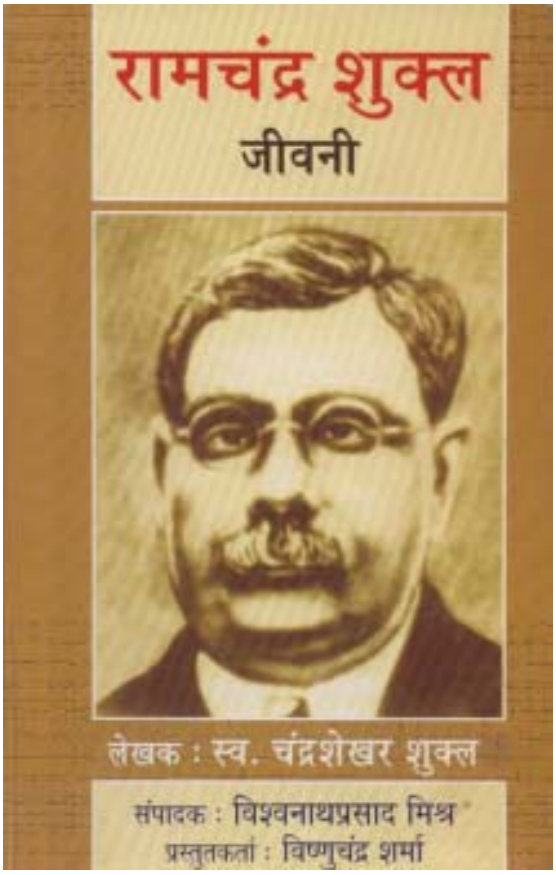

लगभग 50 वर्षों से अप्राप्य इस अनमोल पुस्तक का नवीन संस्करण अभी निकला है। स्वास्थ्य सम्बन्धी देखरेख एवं उच्च शिक्षा प्राप्ति की सुविधा हेतु चन्द्रशेखर जी शुक्ल जी द्वारा उपकृत थे और इस बात की पूरी सम्भावना थी कि जीवनी अतिशयोक्तियों एवं श्रद्धा विगलित भावुक उद्गारों से ओतप्रोत हो जाती लेकिन 'प्राक्कथन' के शब्दों में लेखक ने अपना नजरिया स्पष्ट किया है, जो पैट्रिक फ्रेंच के नजरिए से बहुत करीब है–'मेरा यह निवेदन करना क्षम्य होगा कि इसमें जो कुछ भी है स्वानुभूत है। फर्स्ट हैंड है। दूसरों से सुनी-सुनाई एक बात भी नहीं लिखी गई है। जो कुछ भी है शुक्ल जी की कही या अपने कानों से सुनी है।'

शुक्ल जी के बहुत करीब एवं पारिवारिक सदस्य होने के कारण लेखक उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक अज्ञात तथ्यों को उद्घाटित कर सका है। जिससे

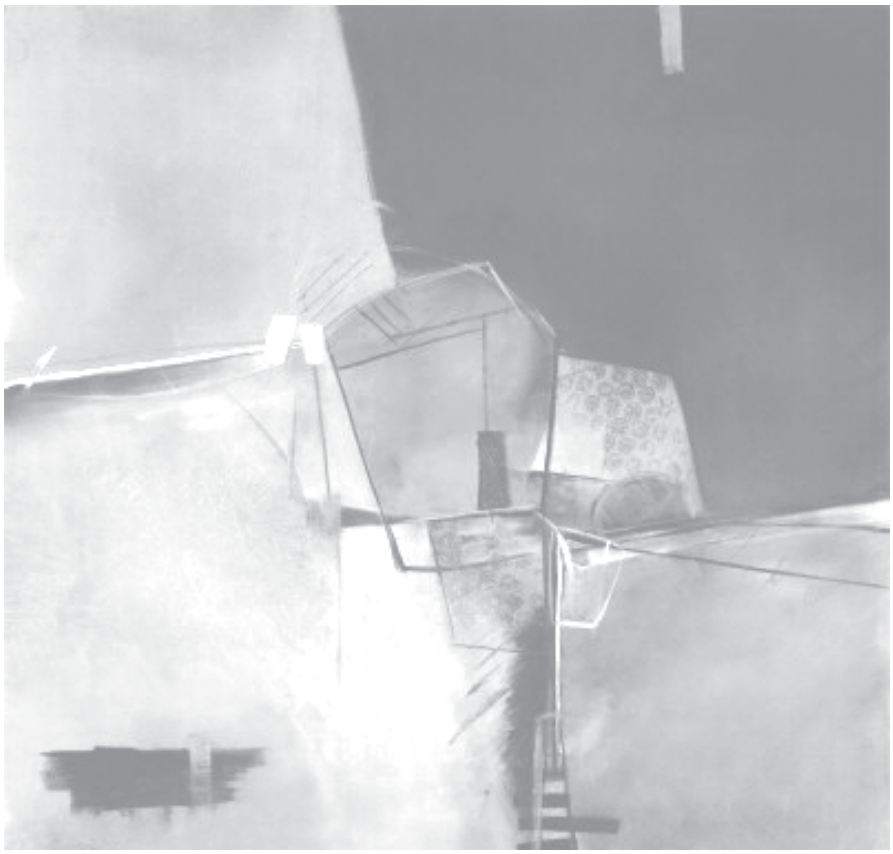

इस महान साधक के जीवन की एक आधी-अधूरी–मुकम्मल नहीं–तस्वीर हमारे समक्ष आती है। 'सतवांसा होने से जन्म के समय यह बालक इतना दुर्बल और क्षीणकाय था कि बहुत देर तक रोया ही नहीं। 'अए' करके रह गया। उसे देखते ही पितामही ने छाती पीटकर कहा–'काव आयो है? तू काव जिय गो।' जन्म के बाद साधारण बालकों के विपरीत 'अरा अरा करके रोने और दोपहर में पैदा होने के कारण कार्तिक कृष्ण एकादशी को बरही पर इस बालक का नाम 'रामचन्द्र' रखा गया।' प्रकृति प्रेम और पशु-पक्षियों से अनुराग की प्रवृत्ति शुक्ल जी को अपने पूज्य पिता चन्द्रबली शुक्ल से प्राप्त हुई। मिरजापुर में भारतेन्दु के अभिन्न मित्र चौधरी बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमधन' रहते थे। उनकी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में शुक्ल जी के प्रारम्भिक लेख और कविताएँ प्रकाशित हुईं। जीवनीकार की यह टिप्पणी सत्य पर आधारित है कि सन् 1893 में प्रथम परिचय से लेकर सन् 1923 में अपने निधन तक वे बराबर शुक्ल जी के पथ-प्रदर्शक और साहित्यिक आदर्श बने रहे। प्रथम परिचय में ही उन्होंने शुक्ल जी का भविष्य जान लिया था।

शुक्ल जी ने अपने ड्राइंग ज्ञान के कारण सरकारी नौकरी में जाने का सुनहरा अवसर प्राप्त किया था। बात यह हुई कि मिरजापुर जिले के कलेक्टर विंढभ ने एक नक्शा (जिले का) सुधारने के लिए पं. चन्द्रबली शुक्ल को दिया। पिता ने यह कार्य पुत्र को सौंपा। पुत्र ने तीसरे ही दिन नक्शा बनाकर दे दिया। प्रसन्न होकर कलेक्टर ने शुक्ल जी को नायब तहसीलदारी की नौकरी ऑफर की। पिता की नाराजगी मोल लेते हुए शुक्ल जी ने उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। यदि वे नायब तहसीलदार बन गए होते तो हिन्दी सेवा से उनका सम्बन्ध कैसा रहता, कुछ कहा नहीं जा सकता।

अन्ततः वे सन् 1804 में लंदन मिशन स्कूल में 20रु. मासिक वेतन पर ड्राइंग मास्टर नियुक्त हुए। केवल चार वर्ष बाद सन् 1908 में वे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'हिन्दी शब्द संसार' के सहायक सम्पादक नियुक्त हुए। शुक्ल जी की प्रतिभा ड्राइंग टीचर के लबादे में छिपी हुई नहीं थी। केवल 16 वर्ष की अवस्था में उन्होंने एडिसन के 'एसे ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक से अनुवाद कर डाला था। अंग्रेजी भाषा पर शुक्लजी का अच्छा प्रभुत्व था। नायब तहसीलदारी ठुकराने के बाद उन्होंने अंग्रेजी में लेख लिखा–'What has India to do?' जो 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित हुआ था और जिसका अनुवाद अपूर्वानन्द ने शुक्लजी की जन्मशताब्दी (1984) में उन पर केन्द्रित 'आलोचना' अंक में किया था। प्रयाग के 'दी इण्डियन पीपुल' अखबर में लेखमाला लिखी। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में सन् 1908 तक काफी लेखन किया। शुक्ल जी के परमहितैषी पं.केदारनाथ पाठक उनकी अध्ययनशीलता, साहित्यिक ज्ञान तथा लेखन क्षमता से परिचित थे। नागरी प्रचारिणी के कोश के कार्य में शुक्लजी को नियुक्त कराने में पाठक जी की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। मिरजापुर की मेयो मेमोरियल लाइब्रेरी में अंग्रेजी में उपलब्ध मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र की सब पुस्तकें शुक्ल जी ने पढ़ डाली थीं। काशी पहुँचने पर जॉन स्टुअर्ट मिल रचित 'मानव मस्तिष्क का विश्लेषण' नामक ग्रन्थ के दोनों विशाल खण्ड दो बार पढ़ डाले थे। 'चिन्तामणि' में संकलित मनोविकारों पर आधारित निबन्धों की आधारभूमि यही अध्ययन है।

जीवनीकार ने शुक्लजी की आर्थिक स्थिति का कच्चा चिट्ठा भी पेश किया है। विश्वविद्यालय में अध्यापकी के बावजूद वे आर्थिक संकट से निपटने के लिए हाईस्कूल परीक्षा की कॉपियाँ सन् 1940 तक जाँचते रहे। पैसे के लिए उन्हें बहुत-सा बेगार लेखन और अनुवाद करना पड़ता था। सन् 1934 तक विश्वविद्यालय जाने के लिए उनके पास अपना कोई वाहन न था। उनके डिप्टी कलेक्टर ज्येष्ठ पुत्र के पास मोटर कार थी। लेकिन शुक्लजी का यह हाल था कि घर से दुर्गाकुण्ड तक हाँफते हुए पैदल चलकर इक्का करते थे और लौटते समय डॉ. श्यामसुन्दर दास या हरिऔध जी के ताँगे से आते थे। सन् 1939 में हिन्दी विभागाध्यक्ष हो जाने पर आर्थिक स्थिति कुछ बदली, लेकिन उन्हें काशी में घर बनवाने की फिक्र सवार हो गई। 98 हजार रुपयों की लागत से सन् 1837 में दुर्गागुण्ड में एक अधूरी कोठी बनवाई। सुख के दिन शुक्ल जी की जिन्दगी में कभी नहीं आए। यदि वे जीवित रहते तो निश्चय ही उनके लिए अब सुख ही सुख था और आज अपनी पुस्तकों की रॉयल्टी से ही निश्चित और सुखी

जीवन बिताते। लेकिन वे तो श्रम और कष्ट के लिए ही आए थे। उनके जीवनभर तो दो-चार सौ सालाना से अधिक रॉयल्टी भी कभी न मिली। इस कोठी को पूरा करने के पहले ही 1841 की दूसरी फरवरी को उनका 'काशीवास' हो गया।

गहन अध्ययन-मनन को समर्पित जीवन, कठिन आर्थिक सफर एवं तीन-तीन बीमारियों (दमा, हाइड्रोसिल, बवासीर) के पिंजरे में कैद शरीर कब तक साथ देता। सन् 1941 में दमा उभरा और इलाज करने वाले डॉक्टर अचल बिहारी सेठ की गलती से रविवार 2 फरवरी 1941 को 8 बजे रात शुक्ल जी का स्वर्गवास हो गया। 4 बजे सायंकाल डॉक्टर ने एक इंजेक्शन दिया और आराम न होते देख साढ़े चार घंटे बाद ही दूसरा इंजेक्शन दे दिया। डॉ. को इस बात का ध्यान न रहा कि मरीज का दिल कमजोर और फैला हुआ है। यह गलती प्राणांतक सिद्ध हुई। शुक्रवार 31 जनवरी 1941 को विश्वविद्यालय में शुक्ल जी ने अन्तिम क्लास ली थी। गुप्त जी की 'यशोधरा' पढ़ाते हुए भावार्थ बताते हुए उन्होंने कहा था–'बुद्धदेव संसार से कहते हैं हे नाशवान् जगत्, तू मुझे छोड़ दे, नहीं तो मैं ही तेरे हित के लिए, तुझे छोड़ दूँगा।' जीवनीकार की टिप्पणी है–'कौन जानता था कि वे सायं संसार से विदा ले रहे हैं। चलते समय उन्होंने एक बार फिर कहा–'आदाब अर्ज! राम राम!'

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' शुक्लजी की महत्तम कृति है, जो 'हिन्दी शब्दसागर' की प्रस्तावना के रूप में लिखी गई थी। डॉ. श्यामसुन्दर दास बिना कुछ लिखे इसके सहलेखक बनना चाहते थे। इसके लिए शुक्लजी को अतिरिक्त सतर्कता बरतनी पड़ी। लेकिन इस प्रकरण ने दोनों के बीच दूरी निर्मित कर दी। सम्बन्धों की यह खटास बाबू श्यामसुन्दर दास की आत्मकथा में जगह-जगह प्रतिकूल टिप्पणियों के रूप में प्रकट हुई है– यथा–'पं. रामचन्द्र शुक्ल कभी समय पर नहीं आते थे। उनकी प्रकृति ही ऐसी ढीली-ढाली थी कि समय पर काम करना उनके लिए असम्भव था।' डॉ. श्यामसुन्दर दास के प्रतिभा शोषक रूप को जीवनीकार ने सोदाहरण प्रकट किया है। ऐसे चतुर चालाक लोगों का यश समय के प्रवाह को नहीं झेल पाता है।

आर्थिक स्थिति सुधारने हेतु प्रेमचन्द जी की तरह शुक्ल जी ने भी अपने क्षेत्र से बाहर जाने का प्रयास किया था। विश्वविद्यालय से छुट्टी लेकर सन् 1924 में अलवर के महाराजा के हिन्दी सचिव के पद को उन्होंने स्वीकारा लेकिन वहाँ के राजसी तथा बनावटी जीवन से ऊबकर जनवरी 1925 में पुनः काशी लौट आए।

जीवनीकार चन्द्रशेखर शुक्ल ने आचार्य शुक्ल की प्रकृति प्रियता, घुमक्कड़ी, जीवन-चर्या, आचार-व्यवहार, हर छोटी से छोटी बात से पाठक को परिचित कराया है। उनकी कविताओं के अनेकों उद्धरण पुस्तक में उपलब्ध हैं।

डॉ. राजमल बोरा ने भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बॉसवेल बनने की कोशिश की किन्तु उनकी पुस्तक 'चिन्तामणि चिन्तक : रामचन्द्र शुक्ल' (हिन्दी प्रचारक, वाराणसी, सन् 2000) पुनरावृत्ति दोष से ग्रस्त है। उपलब्ध तथ्यों के सुसंगत समायोजन की प्रतिभा के अभाव में डॉ. बोरा बॉसवेल बनते-बनते रह गए। लेकिन यह सच है कि डॉ. बोरा ने शुक्ल जी पर पर्याप्त सामग्री–चन्द्रशेखर शुक्ल से आगे उनकी जीवनी इकट्ठी की है। इधर शुक्लजी की एक और जीवनी प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली से आई है, जिसकी लेखिका उनकी उत्तराधिकारी कुसुम चतुर्वेदी और मुक्ता हैं। लेकिन यह जीवनी भी आधी-अधूरी है, श्रद्धा-भक्ति से लबरेज। यह हिन्दी साहित्य की बड़ी विडम्बना है कि आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक की एक अच्छी प्रामाणिक जीवनी–'कलम का सिपाही : प्रेमचन्द'/ अमृतराय और 'निराला की साहित्य साधना'/ डॉ. रामविलास शर्मा–जैसी नहीं आई। मरणोपरान्त शुक्ल जी के साथ साहित्यिक छद्म होते रहे। मलयज साहित्य अकादिमी के लिए मोनोग्राफ लिख रहे थे, बीच में ही उनका निधन हो गया। आचार्य शुक्ल की ग्रन्थावली के प्रकाशन में भी कई तरह की अड़चनें आईं। अन्ततः प्रकाशन संस्थान से डॉ. ओमप्रकाश सिंह जी के सम्पादक में 2007 में आठ खण्डों में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली' का प्रकाशन एक बड़ी सुखद साहित्यिक घटना है। अब तक शुक्ल जी पर काफी कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है और आगे भी लिखा जाएगा। उनकी जीवनी के प्रसंग में इस बीच डॉ. भवदेव पाण्डेय की पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : आलोचना के नए मापदण्ड' (राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-2, पहला संस्करण 2003) के आरम्भ में लगभग 83 पृष्ठों में मिरजापुर प्रवास का प्रामाणिक जीवनवृत्त है, जिसे डॉ. पाण्डेय ने 'प्रेमघन' के पुस्तकालय में उपलब्ध स्रोतों से तैयार किया है, जिसे भी देखने की जरूरत है। अब जब शुक्ल जी के जीवन और कृतित्व पर भरपूर सामग्री उपलब्ध है, मुझे इस बात का इन्तजार है कि जिस तरह बॉसवेल ने जॉनसन की जीवनी लिखी, उसी तरह हिन्दी का कोई आवारा वीर बांकुरा शुक्लजी की प्रामाणिक जीवनी लिखकर हमारे समय के इस अप्रतिम आलोचक के ऋण को चुकाए। हमें हिन्दी के बॉसवेल का इन्तजार करना पड़ेगा। लेकिन कोई-न-कोई भवभूति के शब्दों में जरूर करेगा। मुझे पूरा भरोसा है।

रामचन्द्र शुक्ल (जीवनी)/ स्व. चन्द्रशेखर शुक्ल; संपा. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; प्रस्तुतकर्ता विष्णु चन्द्र शर्मा/ स्वराज प्रकाशन, 7114, गुप्ता लेन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2; मूल्य : 595.00

46, लालित्य, पठान ले आउट रिंग रोड, नागपुर-440022

अन्त:प्रक्रियाओं का पुनर्पाठ

कृष्णदत्त पालीवाल

कवि-कथाकार, आलोचक रमेशचन्द्र शाह की 'डायरी' की अन्तर्यात्रा में एक प्रकार से समकालीन साहित्य चिन्ताओं और प्रश्नाकुलताओं के भीतर से गुजरना है। इस डायरी की पूरी मनन-प्रक्रिया साहित्य में अन्तर्भूत है। एक समय अज्ञेय ने अपने कवि-मन की 'भवन्ती', 'अन्तरा', 'शाश्वती' और 'शेषा' में 'डायरी' के माध्यम से 'मैडिऐटिव थिकिंग' गहन विचार मुद्रा में सामने लाकर पाठक को 'अपूर्व' अनुभव का साक्षात्कार कराया था। उसके बाद ग.मा. मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में साहित्य के ज्वलन्त प्रश्नों पर बड़े आत्मीय संवाद से विचार किया। 'अचानक' निर्मल वर्मा ने 'धुंध से उठती धुन' शीर्षक अपनी 'डायरी' में विश्व-साहित्य के सागरतटों का स्पर्श बड़े एकाग्रभाव से किया। निर्मल वर्मा का अन्तर्जगत कैसे अनेक देशी-विदेशी कृतियों-स्थितियों-प्रकरणों प्रसंगों से निर्मित हुआ है इस सच से पाठक साक्षात्कार कर सका। इसी अन्तर्जीवन और अन्तर्जगत की बनावट का 'डिटेल' लेकर रमेशचन्द्र शाह की डायरी 'अकेला मेला' का प्रथम खण्ड सामने आया है। संसार भर में डायरी साहित्य की सर्वाधिक अन्तरंग और 'प्राइवेट' किस्म की विधा रही है। एकदम गोपनीय विधा होने के कारण भाषा निबद्ध होकर भाव उस गोपन आन्तरिकता से विलग होकर प्रकट हो जाता है जो लेखक में रचना के दौरान चल रहा होता है। रमेशचन्द्र शाह का रचना-स्वभाव ऐसा होने वे शब्दों के बीच बौद्धिक व्यायाम में सुख पाते हैं। इसलिए इस डायरी में शाहजी ने साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रश्नों के चक्र से गुजरते हुए जो विचार-संरचनाएँ निर्मित की हैं वे जीवन की मर्मानुभूतियों को या जीवन की संश्लिष्ट 'सभ्यता-समीक्षा' को एक के बाद एक-एक करके वैचारिक आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाती हैं।

'अकेला मेला' के सर्जनात्मक गद्य को पढ़ते हुए आपको अनुभव होता है कि इस कदर रोचक और विचारोत्तेजक बहसें शाहजी के 'भीतर' से उठकर अनायास 'बाहर' आ रही हैं कि उनसे सहृदय संवाद किए बिना रहा नहीं जा सकता। आज अकादमिक जड़ता से मुक्त ऐसा अकादमिक संवाद एक नए तरह का स्वाद देता है। ऐसी स्थिति के कारण डायरी, खासतौर पर लेखक की डायरी, दूसरों के काम की चीज हो सकती है। जिसमें अलग-अलग रुचियों वाले सामाजिकों का साझा हो सकता है। इस डायरी के अंश 1980-85 के बीच अलग-अलग मनःस्थितियों में लिखे गए हैं। शाहजी के अन्तर्जगत पर एक ओर जयशंकर प्रसाद और अज्ञेय की भारी गूंज है तो दूसरी ओर टी.एस.इलियट और यीट्स की धमक। मलयज, निर्मल वर्मा, विपिन कुमार अग्रवाल, सर्वेश्वर, विजयदेव नारायण साही जैसे मित्र और शिक्षक बार-बार 'बिम्ब' रूप में उभरते हैं–उनसे बातचीत करते हैं और अकेला छोड़कर गायब हो जाते हैं। इस तरह शाहजी के रचना-कर्म और चिन्तन के 'क्लू' इस डायरी की समग्र अर्थ व्यंजना में अन्तर्व्याप्त हैं। इसलिए निबन्ध-कहानी-यात्रा-संस्मरण, कृति-स्मृति की तमाम विधाएँ मिलकर यहाँ 'विचार-रसायन' तैयार करती हैं? इसे परम्परागत अर्थ में 'डायरी' कहना भी गलत होगा और मित्र-संवाद के संस्मरण कहना भी। यहाँ अन्तर्यात्रा 'मन' की प्रतिक्रिया है और अन्तः प्रक्रियाओं का लेखा-जोखा। पूरा अतीत इस डायरी का वर्तमान है। वर्तमान के सृजन-संकट, भारतीय-संस्कृति-दर्शन के भाष्य कलाओं के दीपक इसमें

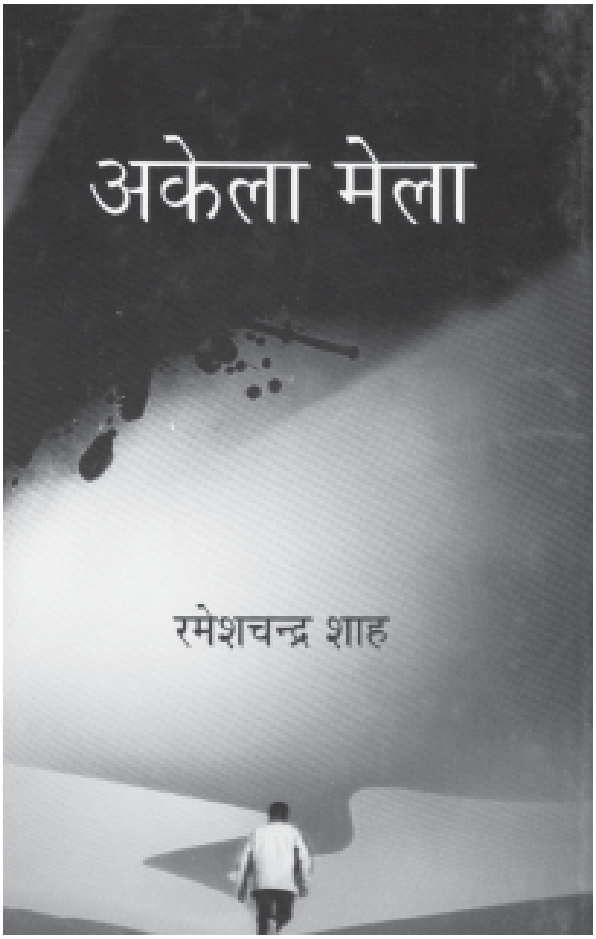

आलोक-दीप्त हैं। शाहजी ने चौकन्नेपन से उठते हुए अनुभवों की पूरी अन्तर्ध्वनि को पकड़ने का प्रयत्न किया है। वे अंग्रेजी के अध्यापक हैं तो अंग्रेजी के रचनाकार, अंग्रेजी के विचार-वाक्य एक घुमड़ते चले आते हैं। रौ में वे इलियट का पीछा नहीं छोड़ते। यह इस डायरी की शक्ति भी है और सीमा भी।

'अकेला मेला' में 3 जुलाई 1969 का स्मृति पट जयशंकर प्रसाद के कथन से बुना हुआ है–'दुःख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग, दोनों के एकीकरण का यत्न ही साहित्य है।' यही वह सूत्र-वाक्य है जिसके 'बीज-चिन्तन' पर शाहजी मुग्ध हैं। उन्होंने कहा है कि प्रसाद की यह बात क्यों इस कदर मर्म को छू जाती है। इसलिए कि स्वयं प्रसाद के कृतित्व में हमें मानवीय अनुभव का वह समूचा वर्ण-पट दिखाई देता है। एक ओर विषाद और वैफल्य की गहनतम अनुभूति से उपजी वे त्रासद पंक्तियाँ, जो हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। 'सुख आहत शान्त उमंगें। बेगार साँस ढोने में। यह हृदय समाधि बना है। रोती करुणा कोने में।' और दूसरी और उतनी ही मार्मिक अनिवार्यता के साथ इसके एकदम विपरीत छोर पर आनन्दमय आत्मा का यह संगीत–'मैं हूँ यह वरदान सरीखा। लगा गूँजने कानों में' की ध्वनि। प्रसाद जी की जीवनानुभूति का इतना बड़ा फलक उसकी ऐसी गहराई और उसकी ऐसी उत्तीर्णता 'रमेशचन्द्र शाह को 'छायावाद की प्रासंगिकता' से लेकर आज तक चकित किए रही है। अज्ञेय और विजय देवनारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी और विपिन कुमार अग्रवाल की तरह वे प्रसाद जी से अभिभूत हैं। इतने अभिभूत कि प्रसाद और अज्ञेय की तुलना में इलियट और यीट्स का कद बौना दिखाई देता है।

इलियट को याद करते हुए शाहजी ने प्रसाद को लेकर माना कि 'एक चिन्तक की हैसियत से अपनी विरासत का जैसा मंथन प्रसाद ने दिया, वह हिन्दुस्तानी मन और हिन्दुस्तानी इतिहास की जटिलता को समझने के लिए एक ऐसी दृष्टि देता है, जो प्रसाद से पहले हमें उस तरह कहीं नहीं मिलती।' (अकेला मेला, पृ. 10) यह प्रसाद की बेहद अपनी खोज है जो हमारे अनुभव को आलोकित करती है। इस चिन्तन के पीछे एक बड़े कवि की जीवनानुभूति का, उसके अपने आत्मसाक्षात्कार का बल है। यह मात्र एक आन्दोलन की अगुआई, जीर्णोद्धार करने का बौद्धिक श्रम मात्र नहीं है–इसमें एक खुलापन-पोढ़ापन के साथ ताकतवर आत्मालोचन और मोहमुक्त आस्था का स्वर है। प्रसाद अतीत के मानदण्डों से वर्तमान को ठुकराने का आसान रास्ता नहीं निकालते, न कोरे भविष्यवाद में अपने को गर्क करते हैं। मनु पुत्र को निश्शंक भाव से इड़ा के हाथों सौंपनेवाला कवि 'जिस 'मननशील और निर्भय' विश्वास से प्रेरित है–वह न तो यूरोपीय दिस इनहेरिटेड माइंड' का इच्छित चिन्तन है–न उधार खाते का प्रगतिवाद। उसके पीछे कालिदास की परम्परा का बल है और है ऐतिहासिक बोध सम्पन्न नए भारतीय मनुष्य का विवेक। इस तरह हम पाते हैं कि शाहजी की इस डायरी का श्रीगणेश प्रसाद-वन्दना से होता है। इस वन्दना की व्यंजना यह है कि वे भारतीय-चिन्तन-परम्परा से पश्चिम के सृजन-चिन्तन पर विचार करते हैं। पश्चिम के चिन्तन से भारतीय मनीषा पर कीचड़ नहीं उछालते हैं।

शाहजी के पास पर्वतीय-मुक्त-धाराओं से सिंचा हुआ मन है। यह मन भोपाल महाशिवरात्रि में 6 फरवरी 1980 से सक्रिय होता है। 'इजा और कक्कू मन्दिर के भीतर चले गए। मैं सीढ़ियों के नीचे उनकी चप्पलों की चौकीदारी करते बैठा था। मन्दिर का विशाल प्रांगण खचाखच भरा था। उस विशाल जन-समुद्र की उठती लहरों में मुझे छा लिया : पाँवों का जंगल था वहाँ पाँवों का समुद्र–कोमल फूल सरीखे पाँव, जर्जर बिवाइयों से भरे पाँव, नंगे काले खुरदुरे पाँव, गोरे गहनों से अलंकृत पाँव, कमजोर लड़खड़ाते पाँव, फुरतीले थिरकते पाँव। पाँवों का मेला था वह मुझ पर गुजरता हुआ। (वही, पृ. 110) शाह के गद्य में काव्यात्मकता का अद्‌भुत मेल रहता है। शाहजी विशुद्ध विचारक न होकर मूलतः कवि-कथाकार हैं। इनके दोनों रूप इस गद्य में हाथ पकड़े खड़े हैं। कवि का वाग्वैदग्ध कल्पना में फूट-फट रहा है। अनुभूति का विचित्र अनिर्वचनीय ढंग और मौन निस्तब्धता।

डायरी में स्मृतियों का खजाना है–जैसे शास्त्रीय संगीत की याद। पण्डित सियाराम तिवारी ने सुबह सचमुच समा बाँध दिया। ध्रुपद-धमार। कोमल रिषभ आसावरी। उसके बाद छोटी धमार। 'यशादो अपने कान्ह को समझाओ, जैसा धमार। फिर, सुमेरी मैंने निर्बल के बल राम जैसा भजन। मन एकदम मंगल मस्ताना। पण्डित को दिपदिपाता चेहरा कह रहा है–ध्रुपद के बाद ठुमरी जमती नहीं। इसलिए भजन गाता हूँ। इतनी बड़ी चीज को लुप्त नहीं होने देंगे। नए लड़के ठसके से आएँगे-गाएँगे यह विश्वास है।

11 अप्रैल से 20 मई तक का 'डायरी' में कोई रोजनामचा नहीं 20 मई, 80 की स्मृति। कासार देवी से लौटते हुए बाजार में चिरंजीलाल काका दुकान के चबूतरे से चिल्लाए 'आओ, बैठो, तुमसे कुछ बात करनी है मुझे।' वहाँ सुनने को मिला-सर्वथा अपूर्वानुमेय और अप्रत्याशित।' काका ने कहा 'तुम्हारे कवित्त कहानी पढ़ जाता हूँ। समझ में नहीं आते। बातें ऊपर-ऊपर से निकल जाती हैं। कुछ हमारे जैसों के लिए भी लिखा करो। आज के जमाने में कालिदास को भी तुलसीदास बनना पड़ेगा। अरे सीधा-सच्चा जनता के लिए लिखो और दूध में पानी कम मिलाओ। जनता को आज के रचनाकार की बौद्धिक रचना समझ में नहीं आएगी तो वह बाजार का जैसा मिलेगा-पढ़ेगा। उसने कहा 'अब तुम चिल्लाते रहो कि फूहड़ है गन्दा है। हम क्या करें, हमारे पल्ले वही पड़ता है। तुम हमें पढ़ने का मजा नहीं दोगे तो मदारी, भड़ुवे और एक-एक रुपये की रंगीन औरत का फोटो वाले पॉकेट बुक्स देंगे। आदमी को मनोरंजन चाहिए। (पृ. 12) इस तरह शाहजी ने सृजन-कर्म और पाठक की समस्या पर उसके हृदय में बैठकर विचार किया है। पाठक तभी रचना को ग्रहण करेगा जब भाषा समझ में आएगी। इस तरह 'साधारणीकरण-व्यापार और कवि-कर्म की निर्वैयक्तिकता पर यह 'डायरी' बड़े महत्त्वपूर्ण संकेत लिए हुए है।

ध्यान आया कि 9 अगस्त, 1980 को भोपाल में एक पुरानी छात्रा मिली। वह दस बरस से अमरीका में रहती है। उसके बच्चे बड़े हो गए हैं–वहीं पढ़ाना चाहती है। 'मैंने पूछा–क्या लौटकर नहीं आना है? बच्चों का क्या होगा? तो बोली, 'मैं अपने बच्चों को सर्वव्यापी गन्दगी, गलाज़त और दलिद्दर दिखा के क्या करूँ?' मैं सन्न रह गया सुन के।' (पृ. 13) उसके लिए रुट्स की बात व्यर्थ हो गई–भारतीय संस्कृति, भारतीय जीवन पद्धति

से 'सेंटीमेंटल' लगाव का यह हश्र हुआ। ध्यान आया प्रवासियों को ही क्यों, इस देश के ज्यादातर पढ़े-लिखे, तेज-तर्रार महत्त्वाकांक्षी लोगों के साथ भी क्या यही विडम्बना नहीं जुड़ी है? बल्कि विदेश में उनके ऐसे गुण भी प्रकट होते हैं, जिनका यहाँ काम करते बिल्कुल पता नहीं चलता। हम भारतीयों ने अपने गुणवालों की कद्र करना छोड़ दिया है। केवल आत्मद्रोही लालच बचा है। इस तरह के असुविधाजनक प्रश्नों से शाहजी का माथा गरम दिखाई देता है। उन्हें भारतीय संस्कृति के फरेब से घृणा है। उन्हें एक अर्थशास्त्री का भाषापवाद आया कि भारत का शिक्षक वर्ग सिर्फ, वेतन बढ़वाने के लिए एकजुट होकर आन्दोलन करता है और वह भी एक ही पार्टी के झण्डे तले। इससे ज्यादा शर्मनाक और आत्महीन आचरण क्या हो सकता है? समाजवादी-साम्यवादी नारे खोखले हैं–गाँधी, लोहिया, मार्क्स, जयप्रकाश नारायण की विचारधाराओं का शिक्षा-समाज- संस्कृति में अर्थ कहाँ बचा है। गौतम बुद्ध और गाँधी की खोपड़ी पर उत्तर आधुनिकतावाद की मूल्य-मूढ़ता चढ़ बैठी है।

जगह-जगह इस डायरी में साहित्य का ढेर लगा है–इस ढेर में कभी मनोहर श्याम जोशी, कमलेश, मलजय झाँकते हैं। कभी अज्ञेय, जैनेन्द्र, प्रेमचन्द, काफ्का, सार्त्र और गोविन्दचन्द्र पाण्डेय। शाहजी को जोशी से मिलकर ध्यान आया। 'जोशी जी अपने आप में छः चरित्रों के बराबर हैं। 'मिमिक्री', की ऐसी प्रतिभा मैंने कहीं नहीं देखी हिन्दी में।' (पृ. 15) जोशी जी के आत्ममंथन गूँजते हैं– चिन्तक तो लाखों-करोड़ों में विरला ही होता है–बाकी तो सब चिन्तन की मुद्राएँ हैं। अज्ञेय जी ने माना है कि जैनेन्द्र उपन्यासकार अच्छे हैं चिन्तक नहीं हैं उनमें सोफिस्ट्री या तर्काभास है। वे चिन्तन में ऐसा 'घपला' करते हैं कि पाठक 'कन्फ्यूज्ड' हो जाता है।

भारत भवन में शम्भू मित्र और साँवली घोष का काव्यपाठ सुना तत्पश्चात् भवानी प्रसाद मिश्र का। प्रभात कुमार त्रिपाठी की मिमिक्री से भवानी जी की स्टाइल का अन्दाज था। मिश्रजी को 'असल' में देखना-सुनना, अपूर्व आनन्ददायी अनुभव था। शाहजी इस काव्य-पाठ के बाद मुल्कराज आनन्द से मिले। इत्मीनान से गपशप की और फिर प्रयाग शुक्ल के साथ। मुल्कराज आन्नद 'सेवेन समर्स', 'अनटचेबल्स' के बाद फ्रायड में डूबकर 'आत्मकथा' पूरी कर रहे थे–उन्हें आत्मकथा लिखने की प्रेरणा भी फ्रायड ने दी थी–'आत्मकथा लिखो। औपचारिक नहीं, तथ्य निष्ठ, सत्यनिष्ठ आत्मकथा। फ्रायड ने मेरी असली नस पकड़ ली थी। आखिर गाँधी के पास भी मुझे किसने भेजा? उनकी आत्मकथा ने ही न। मोटिवेट तो, मुझे उसी ने किया था।'' (पृ. 17) दरअसल, हम हिन्दुस्तानी वयस्क होने में बहुत समय लगाते हैं। थन ही नहीं छूटता मुँह से। मुल्कराज यहाँ के बुद्धिजीवियों से बहुत नाराज दिखे। जैनेन्द्र को वे पसन्द तो करते हैं–पर उनके उपन्यास 'त्यागपत्र' को नहीं। राजाराव का 'कण्ठपुरा' भी उन्हें दर्शन की बघार लगा। लेकिन उन्हें 'वात्स्यायन इज डिफरेंट। ही नोज व्हाट ही इज टाकिंग एबाउट। बट ही इज टू मच आव ए पोयट ईवन इन हिज फिक्शन' मुल्कराज की प्रतिक्रियाएँ वैसे तो ठीक लगीं लेकिन धार्मिक संवेदना को लेकर क्रूड'।

शाहजी की इस डायरी के असली हीरो दो हैं–अज्ञेय और निर्मल वर्मा। अज्ञेय के शब्द-शब्द पर वे रीझे हुए हैं। और निर्मल उनके सखा-मित्र। दोनों साहित्य के अनेक पक्षों पर घण्टों विवाद-संवाद करते हुए यहाँ मौजूद हैं। दोनों को संगीत में डूबे आदमी का एकान्त चाहिए। दोनों इलियट-लीविस-बेंजामिन की साहित्यिक चिन्ताओं पर विचार करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। बीसवीं शताब्दी की चिन्ताओं को समझने के लिए दोनों वॉल्टर बेंजामिन की ओर मुखातिब हैं। निर्मल वर्मा ने सवाल खड़ा किया कि क्या कारण है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध की महत्त्वपूर्ण कविता तो अपने समय की सारी उथल-पुथल बौद्धिक उथल-पुथल को प्रयोगशीलता के बूते घुला सकी, पचा सकी। अपनी नई से नई और जटिल से जटिल संरचनाएँ खड़ी करके। जैसे इलियट का 'वेस्टलैण्ड' या पाउंड का 'कैंटोज' मगर आज सदी के उतार पर जब जानकारियों का आतंक कई गुना ज्यादा बढ़ता जा रहा है तब उसका वैसा जवाब दे पाने में कविता अक्षम प्रतीत हो रही है।' (पृ. 21) इस विचार में शाहजी को दम दिखाई देता है। येट्स और टामस मान की काव्यात्मक टिप्पणियाँ सार्त्र और मायकोवस्की का चिन्तन, अज्ञेय और जैनेन्द्र पर पुनः-पुनः विचार यहाँ एक लय में चलता है। विश्वभर के रचनाकारों पर बड़ी सुलझी आलोचनात्मक टिप्पणियों ने इस 'डायरी' को अनोखा रंग दिया है। यह तो शाह जी का 'बहुपठित' ज्ञान-भण्डार है जो अज्ञेय पर डस्पेंस्की के 'गुर्फियस' का प्रभाव खोजता मिलता है।

दरअसल यह एक सच्चे बहुश्रुत-बहुपठित रचनाकार और आलोचक की एकाग्र समाधि में लिखी गई डायरी है जो हिन्दी डायरी लेखन की अज्ञेय-निर्मल वर्मा-मलयज की परम्परा को आगे बढ़ाती है। कहानी-संस्करण-निबन्ध की मिश्र विधाओं में लिखी यह डायरी एक नया प्रयोग है, एक बहुत ही मनोरम प्रयोग। इस मनोरम प्रयोग के घट में पैठकर हम साहित्य की दुनिया का 'अपूर्व' रस पा सकते हैं। शाहजी में तर्क-भाव कम, जिज्ञासु-भाव ज्यादा है और गाँधी के 'हिन्द स्वराज' का वैचारिक स्वराज। ऐसा अनुभव पाठक करता है कि डायरी के पाठ में गाँधी-अरविन्द और अज्ञेय के चिन्तन का वर्चस्व कई रंगों में मिलता है। अपनी समग्रता में यह डायरी बहुत सर्जनात्मक है हमारे चिन्तन को माँजती है और हमें साहित्यबोध से सम्पन्न करती है।

अकेला मेला/ रमेशचन्द्र शाह/ किताबघर प्रकाशन, दिल्ली-110002/ प्र.सं. 2009/ मूल्य : 225.00

संस्मरण

जो गुज़र गया वो वक़्त हूँ मैं

इक़बाल रिज़वी

शुरुआत गीत गाने से की। फिर गीतों के रचयिता बन गए। अंग्रेज़ों को उनके क्रान्तिकारी स्वर इतने तीखे लगे कि कई बार वे जेल में डाले गए। कि स्मत फि ल्मों में ले गई। जहां से उन्होंने भोजपुरी का डंका पूरे देश में बजवाया। लेकिन रुपहले पर्दे का मोह उन्हें बाँध नहीं सका क्योंकि उन्हें सम्मान की शर्त पर शोहरत नहीं चाहिए थी। फिर जीवन भर साहित्य रचा और ज्ञान बाँटा। वह भी चार-चार भाषाओं में। लेकिन न तो सरकार ने उन्हें स्वतन्त्रता सेनानी का दर्जा दिया न ही आलोचकों ने उनके मूल्यांकन में इन्साफ़ किया और फिर एक दिन वे ख़ामोशी से इस दुनिया को छोड़ गए। उनका नाम था मोतीलाल उपाध्याय पर प्रसिद्धी मिली मोती, बी.ए. के नाम से।)

मोती लाल, बी.ए. का जन्म उत्तर प्रदेश के देवरिया जि ले के बरेजी नाम से गाँव में 1 अगस्त, 1919 को हुआ। बचपन से ही उन्हें गाने का शौक़ था। वे मनपसन्द कविताओं को ज़ बानी याद कर लेते थे। उनकी आवाज़ अच्छी थी इसलिए लोग उनसे गीत सुनाने का आग्रह करते रहते थे। जब मोती लाल कक्षा 9 में पहुँचे तो एक दिन उनके विद्यालय में गीतकार डॉ. शम्भुनाथ सिंह पहुँचे। उन्होंने मोती लाल की आवाज़ में गीत सुने और कहा कि तुम दूसरों के गीत क्यों गाते हो। स्वयं कविता लिखा करो। उनके सुझाव से प्रेरणा लेकर मोती लाल ने कविताएँ लिखनी शुरू कीं। उसी समय महादेवी वर्मा के भाई मनोहर वर्मा के सम्पादन में हस्तलिखित विद्यालय पत्रिका निकलनी शुरू हुई। इसमें पहली बार मोती लाल की एक कविता **बिखरा दो ना अनमोल-अरि सखि घूंघट के पट खोल** छपी। 1938 में जब उन्होंने बी.ए. किया तब तक वे एक लोकप्रिय कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे। उस समय बी.ए. करना बहुत प्रतिष्ठा की बात मानी जाती थी। उस दौर के कई साहित्यकार जैसे बाबू श्यामसुन्दर दास, संतराम आदि अपने नाम के आगे बी.ए. या एम.ए. लगाया करते थे। मोती लाल ने अपने नाम के आगे बी.ए. लगाना शुरू कर दिया। फिर वे मोती बी.ए. के नाम से इस तरह प्रसिद्ध हुए कि 1941 में एम.ए. कर लेने के बाद भी उनके नाम से बी.ए. ही जुड़ा रहा। मोती लाल ने हिन्दी और अंग्रेज़ी के अलावा उर्दू और फ़ारसी का अध्ययन भी जारी रखा। कई भाषाओं के साहित्य से सीधा परिचय होने से उनकी लेखनी भी लाभान्वित हुई। लेकिन वे लोकभाषा की शक्ति और सामर्थ्य को बखूबी पहचानने लगे थे इसलिए उर्दू और हिन्दी के साथ-साथ वे भोजपुरी में भी काव्य रचना करते रहे। फिर भी यह सब कुछ बहुत आसानी से नहीं हो पाया। पढ़ाई के साथ-साथ उन्हें आजीविका का प्रबन्ध भी खुद करना होता था। हालांकि वे कवि सम्मेलनों की दुनिया में तेज़ी से लोकप्रिय हो रहे थे लेकिन उस दौर में कवि सम्मेलनों में आज की तरह के धनलाभ की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

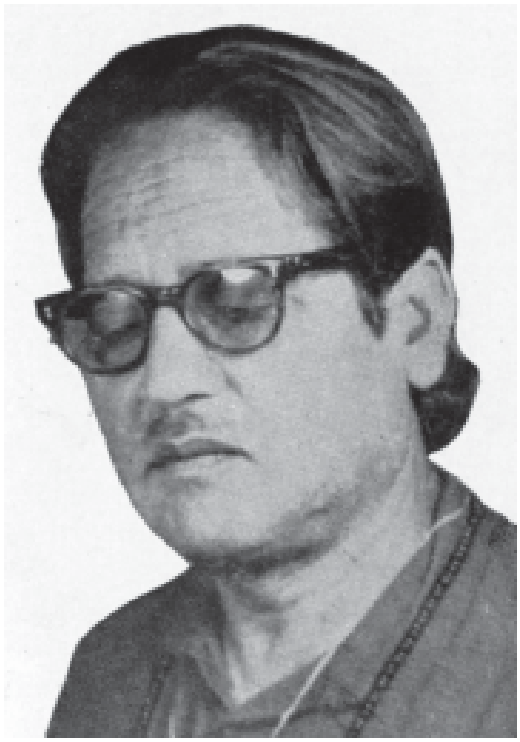

छात्र-जीवन के दौरान ही आजीविका के लिए मोती जी पत्रकारिता से जुड़ गए। दैनिक आज, संसार, आर्यावर्त, आग्रगामी सहित कई समाचार पत्रों में सहायक संपादक की भूमिका निभाई। तब पत्रकारिता अच्छी आमदनी का जरिया नहीं थी। एम.ए. करने के दौरान मोती जी बनारस में समाचार पत्र दैनिक आज में काम कर रहे थे। उनका दफ़्तर कबीरचौरा क्षेत्र में था जहाँ वे रात के नौ बजे से सुबह चार बजे तक काम करते थे। उनका वेतन था 25 रुपये प्रतिमाह। इसमें पन्द्रह रुपये फ़ीस में, दो रुपये मकान भाड़ा और चार रुपये में एक माह तक रात के भोजन के लिए खर्च करने पड़ते थे। बाकी के चार रुपये में सारे काम निबटाने होते थे। तब जंगे-आज़ादी ज़ोर पकड़ चुकी थी। मोती जी अपनी फ़ाकामस्ती से न तो निराश थे न उन्हें अधिकाधिक धन कमाने की लालसा ने घेरा। वे तो आज़ादी के संघर्ष में अपनी कविताओं के ज़रिए योगदान देना ही अपना मुख्य कार्य समझते थे।

उस दौर का उनका एक गीत है।

भोजपुरियन के हे भइया का समझेला
खुलि के आवा अखाड़ा लड़ा दिहे सा
तोहरी चरखा पढ़वले में का धईल बा

तोहके सगरी पहाड़ा पढ़ा दिये सा

जैसे-जैसे आज ादी का संघर्ष तेज होता गया मोती की सक्रियता कलम के सहारे क्रान्तिकारी विचारों को गति देने में बढ़ने लगी। क्रान्तिकारी लेखन के चलते मोती जी को कई बार जेल भी जाना पड़ा। 1943 में वे दो महीने की सज ा काट कर जेल से रिहा किए गए फिर उन्होंने टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज वाराणसी में दाखिला ले लिया। इसी दौरान जनवरी 1944 में वाराणसी में हुए एक कवि सम्मेलन में पंचोली आर्ट पिक्चर संस्था के निर्देशक रवि दवे ने उन्हें सुना। मोती का गीत ''तू चली समग्र सृष्टि ही हिली/कली चटक चटक खिली/पिघल बहा अचल भी/नदी समुद्र से मिली/रूप भार से लदी तू चली'' उन्हें बहुत पसन्द आया और उन्होंने मोती को फि ल्मों में गीत लिखने के लिए निमन्त्रण दिया। लेकिन मोती जी अचानक मिले इस निमन्त्रण को फ ौरन स्वीकार नहीं पाए और साहित्य रचना में ही जुटे रहे। 1945 में वे फिर गिरफ तार कर लिए गए। उन्हें वाराणसी सेंट्रल जेल में भारत रक्षा क ानून के तहत नज र बन्द कर दिया गया लेकिन पहले की ही तरह कुछ हफ तों बाद उन्हें रिहा कर दिया गया।

मोती जी पत्रकारिता और साहित्य से ही जुड़े रहना चाहते थे। फि ल्मों में जाना उनकी प्राथमिकता कभी नहीं रही फिर भी जेल से रिहाई के बाद रोज गार के अवसर की तलाश में उन्हें रवि दवे का फि ल्मों में गीत लिखने का निमन्त्रण फिर याद आया। मोती जी ने लाहौर का रुख किया जहाँ पंचोली आर्ट पिक्चर संस्था थी। उनकी मुलाक ात संस्था के मालिक दलसुख पंचोली से हुई और पंचोली ने उन्हें 300 रुपये महीना वेतन पर गीतकार के रूप में रख लिया। मोती को गीत लिखने के लिए पहली फि ल्म मिली 'कैसे कहूँ'। इसके संगीतकार थे पण्डित अमरनाथ। इस फि ल्म में मोती ने पाँच गीत लिखे। शेष गीत डी. एन. मधोक ने लिखे। इसके बाद आई किशोर साहू निर्देशित और दिलीप कुमार अभिनीत फि ल्म 'नदिया के पार' (1948) जिसमें सात गीत मोती बी.ए. ने लिखे। इस फि ल्म के गीतों की सारे देश में धूम मच गई। खासकर इसका एक गीत **मोरे राजा हो ले चल नदिया के पार** मोती बी.ए. की पहचान बन गया। पहली बार किसी गीतकार ने हिन्दी फि ल्मों में

भोजपुरी को प्रमुखता से स्थान दिया था।

'नदिया के पार' के बाद मोती जी की व्यस्तताएँ बढ़ गईं। उन्होंने कई फि ल्मों में गीत लिखे। उनकी चर्चित फि ल्में रहीं 'सुभद्रा' (1946), 'भक्त ध्रुव' (1947), 'सुरेखा हरण' (1947), 'सिन्दूर' (1947), 'साजन' (1947), 'रामबान' (1948), 'राम विवाह' (1949), और 'ममता' (1952)। 'साजन' में लिखा उनका एक गीत ''हमको तुम्हारा है आसरा तुम हमारे हो न हो'' अपने समय में काफ ी लोकप्रिय रहा।

लेकिन फि ल्मों में गीत लिखने के दौरान मोती ने अपने क्रान्तिकारी तेवरों को भोथरा नहीं होने दिया। स्वतन्त्रता और देश विभाजन के दौर में भला मोती बी.ए. केवल पर्दे के लिए कैसे गीत लिखते रहते। 1947-48 के दौरान उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता 'राशन की दुकान' लिखी। इस कविता के तेवर देखिए–

'ज हर का पेड़ उगा है भाई
हमीं गाय हैं हमीं कसाई
हिन्दु मुस्लिम सिख ईसाई
हम जितने नालायक
उतने ही वे भी हैवान
ये है राशन की दुकान'

जिन सपनों को लेकर क्रान्तिकारियों ने स्वतन्त्रता संघर्ष में अपना सब कुछ होम कर दिया, भारत की स्वतन्त्रता के बाद वे सपने बिसराए जाने लगे। आम आदमी को उसका हक नहीं मिला। लेकिन वह आम आदमी ही है जिसने सत्ताएँ बदलीं। ऐसे आम आदमी की आवाज बनकर मोती जी ने कहा–

'जिन हाथों में शक्ति भरी राज तिलक देने की
उन हाथों में ही ताक त है सिर उतार लेने की
जार रूस का, लुई फ्रांस का,
चार्ल्स-जेम्स लन्दन के
एक फूँक में ही जनता के हवा हुए ज्यों तिनके
अभी देश की कु र्बानी का ख़ून गरम ताज ा है
अभी हुकूमत किसकी यारों अभी कौन राजा है
रंगमंच का दृश्य पलट दो ख़त्म करो ग दारी
अब कैसी लाचारी यारो, अब कैसी लाचारी'

मोती बी.ए. को फि ल्मों में काम की कमी नहीं थी। उनके लिखे गीतों को शान्ता आप्टे, शमशाद बेगम, गीता दत्त, लता मंगेशकर, मोहम्मद रफी, मन्ना डे और ललिता देवलकर जैसे गायकों ने स्वर दिए। लेकिन मोती जी के साथ फि ल्मी दुनिया में नाइंसाफ ी भी खूब हुई। उनके कई गीत दूसरों के नाम से जारी हुए। कुछ उनसे माँगकर और कुछ उन्हें धोखा देकर। मोती जी यह भी सह गए लेकिन जब अशिक्षित और फि ल्मों का लेशमात्र ज्ञान रखने वाले प्रोड्यूसर, जो फि ल्म के हर क्षेत्र में दखल देना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं, उनके गीतों में अपनी मज ी के शब्दों को घुसवाने का प्रयास करने लगे तो यह उनको असहनीय हो गया। उन्हें एहसास होने लगा था कि मुम्बई की फि ल्मी दुनिया में सम्मान की रक्षा के साथ वहाँ अधिक समय तक टिक पाना सम्भव नहीं होगा।

इस बीच यह भी हुआ कि कवि सम्मेलनों से भी उनका मोहभंग हो गया। उन्होंने देखा कि वहाँ सैदेबाज ी का बाज ार गर्म होने लगा है। कविता कण्ठबाज ी का अखाड़ा बनने लगी है। श्रोता जिस पर खुश वही सुनाओ तभी सफ ल होने का चलन तेज ी पकड़ रहा था। जबकि मोती जी का मानना था कि श्रोता मूर्ख नहीं होते और न ही अनपढ़ होते हैं अन्यथा वे कवि सम्मेलन सुनने की जगह नाच या नौटंकी देखने भी जा सकते थे। ऐसे में कवि को उनकी पसन्द के साथ-साथ साहित्य को भी ध्यान में रखना चाहिए। उनकी नज रों में कवि का धर्म यही होता है। इसके अलावा पारिश्रमिक में भी धांधली की घटनाएँ होने लगीं।

और एक दिन अचानक उन्होंने फै सला

किया वे अपने घर लौट जाएँगे। फिर यही हुआ। 1952 में मुम्बई से लौटकर वे देवरिया के श्रीकृष्ण इंटरमीडियेट कॉलेज में इतिहास के प्रवक्ता के रूप में पढ़ाने लगे। हालांकि उनके सामने बनारस, इलाहाबाद और लखनऊ जैसे शहरों में भी प्रवक्ता बनने के अवसर थे। इलाहाबाद और बनारस तब हिन्दी साहित्य के दो बड़े केन्द्र हुआ करते थे। वहाँ रहकर मोती बी.ए. साहित्य की मुख्यधारा में शामिल हो सकते थे। सुविधाओं के लिहाज से भी ये शहर उनके इलाके से कहीं अधिक उर्वर थे। लेकिन वे अपने जन्मस्थान, जो उस समय ही नहीं आज भी उपेक्षित है, में रहकर अपने इलाके के लोगों में साहित्य के संस्कार रोपित करना चाहते थे। उन्होंने ऐसा ही किया और आने वाले वर्षों में मोती बी.ए. से लाभान्वित होकर साहित्य से जुड़ने वाले युवाओं की देवरिया जि ले में अच्छी-ख़ासी तादाद हो गई।

देवरिया में अध्यापन के दौरान मोती जी साहित्य सृजन में लगे रहे। इस सृजन का दायरा इतना विस्तृत था कि इसकी मिसाल मिलना मुश्किल है। उन्होंने शेक्सपियर के सानेट्स और रॉबर्ट ब्राउनिंग की रचनाओं का हिन्दी में सॉनेट्स की शैली में ही प्रभावशाली अनुवाद किया। हिन्दी और अंग्रेज ी में समान दक्षता और काव्य भाषा की गहरी समझ होने के कारण ये अनुवाद बेमिसाल बन पड़े हैं। ब्राउनिंग की कविता का एक अनूदित अंश देखें–

'युग युग जियो ख़ुशी से
दर से पकी उम्र है, बढ़कर गले लगाओ
सुखमय भविष्य आगे, अपना इसे बनाओ
जिस पूर्ण की विधा में, ये दिन अपूर्व बीते
युग युग जियो ख ुशी से
अधिकार में उसी के, जो दिन सभी हमारे
जिसने कहा कि सुध लो, यह काम की तुम्हारे
पीते चलो जब तक सम्पूर्ण पात्र रीते
युग युग जियो ख ुशी से'

यह कविता अगर कहीं स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत की जाए तो पाठक अनुमान नहीं लगा सकते कि किसी विदेशी भाषा की कविता का अनुवाद है। अंग्रेजी रचनाओं के अलावा उन्होंने संस्कृत में रचित कालीदास के 'मेघदूत' का भोजपुरी में अनुवाद किया। मोती जी ने एक और अनूठा काम किया 'तुलसी रसायन' के रूप में। 1986 में लिखे गए इस रसायन में लेखक ने तुलसीदास के जीवन से जुड़े जितने प्रसंग उपलब्ध हैं, उनको भोजपुरी में छन्दबद्ध किया है। इस रसायन में सम्राट अकबर और तुलसी दास की भेंट का वर्णन है। मोती बी.ए. अकबर और तुलसी के प्रताप की तुलना करते इस तरह करते हैं।

'उमड़ल सिन्धु अस तुलसी
प्रताप उहां अकबर जइसे भरल होखे गगरी'

यानी तुलसी के प्रताप का सागर उमड़ रहा है, उसके सामने अकबर का प्रताप ऐसा है जैसे जल से भरी गगरी हो।

जब तक हाथ में ताकत रही मोती जी अनवरत कलम चलाते रहे। उनकी हिन्दी में 20 पुस्तकें और उर्दू में शायरी के तीन संग्रह 'रश्के गुहर', 'दर्दे गुहर' और 'एक शायर' की रचना प्रकाशित हुई। उन्होंने भोजपुरी में भी काव्य रचना की और पाँच संग्रह सृजित किए। जापानी साहित्य की काव्य शैली हाइकू के बारे में पिछले कुछ सालों से हिन्दी में चर्चा बढ़ी है लेकिन बहुत पहले भोजपुरी में हाइकू लिखनेवाले सम्भवतः मोती बी.ए. अकेले कवि हैं। उनके दो हाइकू से उनकी इस विधा में दिलचस्पी और महारत का अनुमान लगाया जा सकता है।

1. आंखि गलावे
रूप गदराइल
छीजे जवानी
2. लागल आगि
कंहवा जाई भागि
जरे खतौना

मोती बी.ए. की करीब चार कृतियां अभी भी अप्रकाशित हैं। भोजपुरी कवि के रूप में मोती जी इस तरह स्थापित हुए कि उर्दू शायरी में उनके योगदान को कभी याद ही नहीं किया गया। उर्दू में उनके लहजे का अनुमान उनके कुछ शे'रों से लगाया जा सकता है।

'क लम होती न जि न्दा तो कभी का मर गया होता
पहुँचने के लिए घर पर ख ुदा के घर गया होता
खीफ ोक ाफि या जुबां हरफ मेजा लगी स्याही
लगी होती जो चेहरे पर कोई भी डर गया होता
वफ ा के नाम पर ऐबेवफ ा क्या ख़ुदकुशी कर लूँ
अगर करना न कुछ होता तो ये भी कर गया होता'

मोती जी का कवि रूप इतना प्रसिद्ध है कि उनके गद्य की चर्चा न के बराबर हुई है। कम लोग जानते हैं कि उन्होंने 'इतिहास का

दर्द' नामक पुस्तक भी लिखी है। वे इतिहासकार नहीं रहे लेकिन इतिहास के तथ्यों पर उनका चिन्तन महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े करता है। यह पुस्तक इतिहास से जुड़े मोती जी द्वारा लिखित निबन्धों का संग्रह है जो 1987 में प्रकाशित हुए। इसकी भूमिका में मोती जी ने बहुत वेदना से देश की व्यवस्था पर उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा है 'धार्मिक उन्मादरूपी आग को अंग्रेज ों ने बड़े मनोयोग से हवा दी। इसी आग की आँच पर उन्होंने अपना तंदूर सेंका और भारत में फूट के सिद्धान्त की फ सलें काटीं। यह ज हर का पेड़ हमारे प्राण प्यारे भारत को मटियामेट करता जा रहा है।'

मोती जी के साथ अपनी काव्य यात्रा आरम्भ करने वाले अनेक कवि जैसे त्रिलोचन, जानकी वल्लभ शास्त्री, भारती, गोपाल सिंह नेपाली आदि ने जिस समय साहित्यिक हलचलों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया उस समय मोती जी सबसे दूर पहले लाहौर फिर मुम्बई में फि ल्मों के लिए गीत लिख रहे थे। हालांकि तब भी उनकी कलम साहित्य की सेवा में लगी हुई थी। कहा जा सकता है कि तब वे साहित्य की मुख्यधारा से थोड़ा दूर रहे। लेकिन एक कवि को इस बात की सज ा कब तक दी जाए कि वह कुछ समय तक मुख्यधारा के कवियों के साथ बहस-मुबाहिसे में शामिल नहीं रहा। आलोचकों ने मोती जी को एक प्रकार से सज ा ही दी और उनके कार्य का उचित मूल्यांकन आज तक नहीं किया गया। फिर भी मोती जी के काव्य का रसास्वादन कर चुके हिन्दी के कई दिग्गज साहित्यकारों ने उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा की है।

'मुझे इस बात का दुख है कि आपको जैसा सम्मान मिलना चाहिए, वैसा नहीं मिला। पर इससे हताश होने की कोई जरूरत नहीं। कालोह्य निरवधिर्विपुल च पृथ्वी।'–डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

'आप सरल शैली के मास्टर हैं। इस शैली ने और कुछ भी दिया हो या न, आपको सरल बना दिया है। सरलता बड़ी साधना की देन है। आपको सन्तुष्ट होना चाहिए।'–डॉ. हरिवंश राय बच्चन

साहित्यिक घेराबन्दी, खेमाबन्दी और जोड़-तोड़ से दूर रहने वाले इस सरल-व्यवहार कवि के सामने अपनी रचनाओं के मुद्रण-प्रकाशन में भी भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। बड़े प्रकाशक उनकी रचनाओं पर ध्यान नहीं देते थे। कुछ प्रकाशकों ने उन्हें धोखे भी दिए। उनकी पुस्तक 'अंग्रेज ी कवि एवं साहित्यकार समीक्षा' की पाण्डुलिपि पटना के एक प्रकाशक ने छापने के लिए ली लेकिन वह पुस्तक कभी नहीं छपी। इतना ही नहीं वह पाण्डुलिपि कभी मोती जी को लौटाई भी नहीं गई। मोती जी के पास उस पुस्तक की कोई दूसरी प्रति भी नहीं थी। इस तरह मोती जी का एक अहम शोध कार्य मिट्टी में मिल गया। कुछ समानधर्मा कवि-लेखक मित्रों की मदद को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश रचनाओं के छपवाने में मोती जी को अपनी गाढ़ी कमाई खर्च करनी पड़ी। इतना ही नहीं, कई संस्थाओं और व्यक्तियों ने उनकी पुस्तकें क्रय के लिए लीं लेकिन भुगतान नहीं किया। बड़ी-बड़ी चोटों को हँसकर टाल देने वाले मोती जी ने कभी सार्वजनिक रूप से तो क्या अपने निकटतम लोगों से भी किसी तरह की शिकायत नहीं की।

मोती जी के फि ल्मी दुनिया छोड़ने के कुछ सालों बाद जब चरित्र अभिनेता नज ीर हुसैन, सुजीत कुमार और कुछ दूसरे कलाकारों ने भोजपुरी फि ल्मों के निर्माण की गति को तेज किया तो मोती बी.ए. फिर याद किए गए। मोती जी ने कई भोजपुरी फि ल्में 'ई हमार जनाना' (1968), 'ठकुराइन' (1984), 'गजब भइले रामा' (1984), 'चम्पा चमेली' (1985), 'ममता' आदि में गीत लिखे। 1984 में प्रदर्शित 'गजब भइले रामा' ने उन्होंने अभिनय भी किया। यह आखिरी फि ल्म थी जिससे मोती जी किसी रूप में जुड़े।

अध्यापन से सेवानिवृत्त होने के बाद मोती बी.ए. जैसा कवि-गीतकार गुमनामी के अन्धेरों में खोता चला गया। वैसे समय के लिए वे पहले ही लिख चुके थे।

'जोग ुज र गया वोक्क तहूँमैं
जो निझर गया वो दरख़्त हूँ मैं'

उस दौर में उन्होंने डायरी लिखनी शुरू की और संस्मरणों के सहारे एक पूरे दौर का इतिहास लिख दिया। लेकिन करीब सात साल पहले उन्होंने शुरू की लिखी करीब दस डायरियाँ यह कहकर जला दीं कि इनके सार्वजनिक हो जाने से भारी विवाद उभरेगा और विवाद की आग मेरे परिवार तक भी पहुँचेगी। उम्र के अन्तिम पड़ाव पर साहित्य अकादमी ने मोती जी को वर्ष 2001 में भोजपुरी भाषा में योगदान के लिए सम्मानित किया। उनकी कई भोजपुरी कविताएँ बिहार के विद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं। गोरखपुर विश्वविद्यालय में एम.ए. में उनकी रचनाएँ पढ़ाई जा रही हैं। शान्ति निकेतन सहित कुछ विश्वविद्यालयों में उन पर शोध भी हो रहा है। फिर भी मोती जी को केवल भोजपुरी भाषा के साहित्यकार के रूप में देखना उनके विपुल साहित्यकर्म के साथ ज्यादती है। स्वयं मोती जी भी अन्तिम दिनों में यह कहते थे कि मेरी एक ही इच्छा है कि लोग मुझे भोजपुरी तक सीमित न रखें।

मोती जी के पुत्र भाल चन्द्र उपाध्याय और अंजनी उपाध्याय उनकी कृतियों को सहेज कर रखने का काम तो करते रहे हैं लेकिन वे अपने पिता को स्वतन्त्रता सेनानी का दर्जा दिलाने में नामाम रहे। शोहरत, सम्मान और अपनी शर्तों पर काम, सब कुछ मोती बी.ए. को मिला लेकिन नौकरशाही ने अन्त तक उन्हें स्वतन्त्रता सेनानी का दर्जा नहीं दिया। हालांकि इस बात का उल्लेख अनेक स्वतन्ता सेनानी और साहित्यकार समय-समय पर करते रहे कि मोती बी.ए. को उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों की वजह से कई बार अंग्रेज ी शासन ने गिरफ तार कर जेल भेजा फिर भी उन्हें जेल भेजे जाने का रिकार्ड आज ाद हिन्दुस्तान की नौकरशाही को नहीं मिल पाया।

पिछले कुछ सालों में मोती जी की बोलने की ताक त खत्म हो गई थी। उन्होंने 18 जनवरी, 2009 को दुनिया से विदा ले ली। उत्तर प्रदेश के एक दैनिक को छोड़ उनकी मौत किसी के लिए ख़बर तक नहीं बन सकी। लेकिन मोती जी से जुड़ी एक ख़बर बहुत सन्तोष पहुँचाने वाली है कि मोती जी के प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य को समग्र रूप में छापने का प्रयास उनके बड़े पुत्र जवाहर लाल उपाध्याय ने शुरू कर दिया है।

जी.एफ.-2, प्लाट नं. 3, सेक्टर-1, वैशाली, गाजि याबाद फोन-9871697241

अनुवाद विज्ञान की भूमिका

सुरेश कुमार

हिंदी में अनुवाद पर ग्रंथस्तरीय विचार परक लेखन को अब चार दशक से अधिक हो चले हैं और क्रम जारी है। अधिकांश लेखन पारंपरिक है। इसमें अनुवाद को प्रायः केवल कलात्मक (स्वतःस्फूर्त) व्यापार के रूप में देखते हुए उस पर सामान्यपरक लगभग उतनी ही स्वतःस्फूर्त आलोचनात्मक टिप्पणियां की गई हैं। तथापि, प्रमुखता से अस्सी के दशक के मध्य से ऐसी पुस्तकें भी आने लगीं जिनमें आधुनिक भाषाविज्ञान/ अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान का घोषित रूप से सुचिंतित और तर्कसंगत उपयोग होने लगा। इसके फलस्वरूप अनुवाद-विचार में अपेक्षित सैद्धांतिक प्रतिबद्धता और प्रकथनों में संतुलन के गुणों का समावेश हुआ है। ऐसे ग्रंथों के शीर्षक में प्रायः 'विज्ञान' या 'सिद्धांत' शब्द का प्रयोग हुआ है। कुछ प्रमुख ग्रंथ हैं, भोलानाथ तिवारी-'अनुवाद विज्ञान' (1972), रवींद्रनाथ श्रीवास्तव और कृष्ण कुमार गोस्वामी (सं.)–'अनुवाद सिद्धांत और समस्याएँ' (1985), सुरेश कुमार-'अनुवाद सिद्धांत की रूपरेखा' (1986), नगेन्द्र (सं.)-'अनुवाद विज्ञान' (1993)। इस शृंखला में नवीनतम पुस्तक है, प्रो. कृष्णकुमार गोस्वामी की 'अनुवाद विज्ञान की भूमिका' (वस्तुतः 'विस्तृत भूमिका') जिसमें अनुवाद के सिद्धांत-स्तरीय बहु-आयामीय स्वरूप पर सतर्क और प्रमाण पृष्ठ (उदाहरणों से समर्थित) विमर्श प्रस्तुत किया गया है।

लेखक के अनुसार, अनुवाद विज्ञान संबंधी चर्चा के तीन आयाम हैं–सिद्धांत, अनुप्रयोग, विविध अवधारणाएँ। सिद्धांत खंड में, अनुवाद का अर्थ-स्वरूप-क्षेत्र, प्रकृति, प्रक्रिया, प्रकार आदि केंद्रीय मुद्दों के साथ उनके कुछ विशिष्ट पक्षों–आशु अनुवाद, मशीनी अनुवाद, पाठ की अवधारणा, व्यतिरेकी विश्लेषण, अनुवाद के विभिन्न सिद्धांत आदि पर विचार किया गया है। यह खंड सबसे बड़ा है (लगभग ढाई सौ पृष्ठ)।

अनुप्रयोग खंड में भाषा की विविध प्रयुक्तियों-साहित्यिक (कविता, नाटक, कथा), वैज्ञानिक, वाणिज्यिक, कार्यालयी, जनसंचारी आदि की अनुवाद संबंधी समस्याओं का सोदाहरण विवरण तथा उनके जो व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किए गए हैं, वे तर्कपूर्ण हैं।

विविध अवधारणाओं के खंड में अनुवाद संबंधी कुछ मूलभूत मुद्दों–अनुवाद और अनुसृजन/ तुलनात्मक साहित्य/ भाषा शिक्षण/ शब्दकोश/ पारिभाषिक शब्दावली आदि के साथ भारत और पश्चिम में अनुवाद कार्य की परंपरा का प्रवृत्तिपरक वर्णन है। अंत में विषय से संबंधित हिन्दी और अंग्रेजी के संदर्भ ग्रंथों की सूची है।

प्रो. गोस्वामी, अन्य ज्ञान-क्षेत्रों के अतिरिक्त, अनुवाद-विज्ञान के क्षेत्र में लंबे समय से सक्रिय रहे हैं। उन्होंने इस पुस्तक में विषय-संबंधी पूर्व-प्रकाशित सामग्री का सविवेक उपयोग करते हुए विषय-प्रतिपादन के परिमाण तथा गुणवत्ता दोनों आयामों पर अपनी छाप छोड़ी है। इस प्रकार, हिन्दी में अनुवाद-विज्ञान संबंधी साहित्य में, यह पुस्तक, उनका विशिष्ट अवदान है।

पुस्तक में विषय का सविस्तार विवेचन है, यद्यपि लेखक ने इसे 'भूमिका' की संज्ञा दी है। इससे लेखक की विनम्रता के साथ यह संभावना भी प्रकट होती है कि वे भविष्य में भी अनुवाद विज्ञान पर अपना लेखन जारी रखेंगे।

पुस्तक की कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना वांछनीय है जिससे इसकी अपनी विशिष्टता का बोध हो सके, विशेषतः यह देखते हुए कि इससे पूर्व इसी परंपरा

('विज्ञान' या 'सिद्धांत' नाम से निर्दिष्ट) में कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं।

लेखक के अनुसार, विषय प्रतिपादन में अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की मूलवर्ती प्रतिबद्धता रही है जिससे पुस्तक के शीर्षक में 'विज्ञान' शब्द के चयन का औचित्य सिद्ध होता है। अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान में मूल तथा लक्ष्य भाषाओं का व्यतिरेकी विश्लेषण, जिसका दूसरा नाम अनुवादात्मक विश्लेषण है, प्रधान प्रक्रिया है जिसका लेखक ने पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया है। यह प्रतिबद्धता इस ग्रंथ की सबसे बड़ी शक्ति है।

प्रतिपाद्य विषय का विस्तार से विवेचन पुस्तक की अन्य मुख्य विशेषता है। विषय-संबंधी प्रायः सभी महत्वपूर्ण आयामों और मुद्दों पर अध्यायवार विचार किया गया है। प्रायः प्रत्येक अध्याय अपेक्षया स्वनिष्ठ है। पाठक को उसी में अपेक्षित उदाहरण भी मिल जाएंगे। तथापि, अध्यायों की परस्पर संबद्धता भी सुरक्षित है।

प्रभावित करने वाली अन्य विशेषता है व्यावहारिक विश्लेषण तथा विचारणीय बिन्दु को समझाने के लिए उदाहरणों की प्रचुरता तथा इस प्रकार विषय-प्रतिपादन का प्रमाणिकीकरण। ई. आर. कुर्नियस का कथन, एक अकेले पाठ के विषय में जो हमें निश्चित कोटि की थोड़ी-सी भी जानकारी मिलती है वह अध्ययन-प्रणालियों की समस्त सैद्धांतिक चर्चाओं से अधिक महत्वपूर्ण है; इस पुस्तक पर सही ढंग से लागू होता है।

लेखक का प्रयास रहा है कि वह यथासंभव नई सामग्री तथा नए विचार दे। सिद्धांत खंड में पिष्टपेषण प्रायः संभावित होता है। परंतु यह पुस्तक इस दोष से ग्रस्त नहीं। आशु अनुवाद (128-154), मशीनी अनुवाद (155-168), समतुल्यता का सिद्धांत (169-180), अनुवाद के सिद्धांत (251-258), ये प्रकरण विशेष रूप से प्रासंगिक तथा ज्ञानवर्धक हैं। इन बिंदुओं का विवेचन पर्याप्त रूप से अद्यतन है।

अनुवाद-विमर्श की आँग्ल-अमरीकी धारा का संदर्भ ग्रहण करते हुए भी लेखक ने इसे भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। यह देखते हुए कि अंग्रेजी को हम अब एक 'स्वदेशी कृत' भाषा के रूप में ग्रहण करते हैं, उदाहरणों के स्रोत के रूप में अंग्रेजी का चयन केवल अतार्किक ही नहीं, अपितु उत्तम भी है।

अनुवाद एक समाज-सापेक्ष सम्प्रेषण कौशल है। अपनी प्रकृति से इसका स्वरूप व्यापक है जिसके दो आयाम हैं–अंतर्वर्ती, सामाजिक-व्यावहारिक। अंतर्वर्ती आयाम मूलभूत स्थिति है जिसका यथोचित उपयोग अनुवाद के सामाजिक-व्यावहारिक आयाम की चर्चा में करना वांछनीय और प्रायः अनिवार्य होता है। सामाजिक-व्यावहारिक आयाम के अपने मुद्दे हैं। प्रमुख हैं–कापीराइट, संस्कृति-मिश्रण, वैश्वीकरण, अस्मिता-निर्माण, भाषायी अल्पसंख्यकता। व्यावहारिक स्तर पर प्रश्न है कि मूल रचना की तुलना में अनुवाद क्या इतना भिन्न है कि इस पर मूल के कापीराइट के उल्लंघन का आरोप लग सकता है? सामाजिक स्तर पर अनेक प्रश्न हैं। जैसे, क्या अनुवाद समग्र प्रभाव की दृष्टि से मूल से इतना दूर हो जाता है कि लक्ष्य भाषा के साहित्य का अंग बन कर भी अपना जीवन, उत्तर-जीवन, जीता है? क्या अनूदित रचना, विशेषतः साहित्यिक रचना, मूल तथा लक्ष्य भाषा की संस्कृतियों का मिश्रण नहीं, जिसके फलस्वरूप पाठक संस्कृति-मिश्रण के अनुभव में से गुज़रता है, इत्यादि? ये मुद्दे चर्चा-सापेक्ष हैं और इनका अपना महत्व है।

लेखक ने स्वयं को अंतर्वर्ती आयाम तक सीमित रखा है और उसके प्रायः प्रत्येक पहलू को स्पर्श किया है, और साथ ही प्रतिपाद्य विषय की आंतरिक अन्विति का भी निर्वाह किया है। यह इस ग्रंथ की उपलब्धि है जिसके लिए लेखक बधाई का पात्र है। पुस्तक की छपाई-सफाई अच्छी और आवरण सादगीपूर्ण एवं नयनाभिराम है। इसका श्रेय प्रकाशक को है। विश्वास है, विशिष्ट पाठक और सामान्य जिज्ञासु पुस्तक का स्वागत करेंगे।

अनुवाद विज्ञान की भूमिका/ कृष्ण कुमार गोस्वामी/ राजकमल प्रकाशन,दिल्ली-110002/ मूल्य : 600 रु.

ए-45, वेलकम अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

छवि - संग्रह

यों तो किसी भी लेखक की सबसे जीवंत उपस्थिति उसकी रचना में होती है पर जैसे हम एक रचना पढ़कर दूसरी रचना खोजते या एक पुस्तक से गुज़रकर दूसरी के लिए उत्सुक अधीर होते हैं वैसे ही हमें इच्छा होती है यह जानने की कि वह लेखक कैसा दीखता है उसका पासपड़ोस कैसा है, वह किनकी सोहबत में रहता आया है, आदि। छवि-संग्रह के माध्यम से हमारा यत्न समकालीन मूर्धन्य लेखकों पर ऐसी सामग्री एकत्र और विन्यस्त करना है तो एकबारगी हमें लेखक के समूचे कृतित्व, उस पर विभिन्न अभिमतों, उसके लिखे, चुने हुए अंशों, उसके अनुवादों, मित्रों, यात्राओं, पड़ोस आदि से अवगत करा दे। यह लेखक को उसकी कृतियों, उसके परिवेश और उसके ठोस संदर्भ में जीवित उपस्थिति के रूप में साक्षात् करने की कोशिश है। यह एक सीरीज है जिसमें, हमें उम्मीद है, हम अनेक मूर्धन्य लेखकों को एक-एक कर उपस्थित कर सकेंगे।

अभी तक प्रकाशित छवि-संग्रह :

निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, कृष्णा सोबती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, नेमिचंद्र जैन, मनोहर श्याम जोशी और नामवर सिंह

'रेवरेंड एडविन ग्रीव्स' से 'उग्र' तक की रचनात्मक विरासत

भवदेव पाण्डेय

मिरजापुर के बिड़ला हाल में मुख्य अतिथि की हैसियत से डॉ. नामवर सिंह ने कहा था–''गंगा मिरजापुर से होकर बनारस जाती है।'' ठीक वैसी ही स्थिति साहित्य की गंगा की भी है जो मिरजापुर से होकर बनारस जाती है।

मिरजापुर से बनारस जाकर साहित्य गंगा को और भी धवल करने वालों में पहले व्यक्ति थे–रेवरेंड एडविन ग्रीव्स। ये सन् 1881 में मिशनरी सोसायटी के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए लन्दन से मिरजापुर आए। बड़ी कुशलतापूर्वक काम करते हुए ग्रीव्स महोदय सन् 1892 तक मिर्जापुर में रहे। इसके बाद ये बनारस चले गए। वहाँ पर इन्होंने 'काशी नगर के वर्णन' में एक पुस्तक लिखी। हिन्दी में लगभग आधा दर्जन पुस्तकें इन्होंने लिखीं परन्तु ये सभी पुस्तकें ईसाई धर्म से सम्बद्ध थीं। इन पुस्तकों में पाँच पुस्तकें मिरजापुर में लिखी गई थीं।

कुछ दिनों के बाद ग्रीव्स साहब काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सदस्य हो गए। सभा की सेवा करते हुए उन्होंने 'मार्डन रिव्यू' मासिक में सभा का अच्छा परिचय दिया और इसके इतिहास तथा और कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया। इनकी विद्वता को देखते हुए इनकी अध्यक्षता में सभा का एक वार्षिक अधिवेशन भी किया गया। इन्होंने अध्यक्षीय भाषण मुख्यतः हिन्दी में देने की कोशिश की। (हिन्दी कोविद रत्नमाला अर्थात् हिन्दी के चालीस विद्वानों और सहायकों के सचित्र जीवन चरितों का संग्रह, दूसरा भाग, श्यामसुन्दर दास बी.ए., प्रकाशक इंडियन प्रेस, प्रयाग सन् 1914 पृ. 1)

इस क्रम में दूसरे व्यक्ति थे उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। सन् 1873-74 में प्रेमघन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मिलने बनारस गए। उस समय प्रेमघन की आयु 16-17 वर्ष की थी। यह मिलन बड़े काम का था। भारतेन्दु उम्र में प्रेमघन से कुछ बड़े थे लेकिन रंग गाढ़ा था प्रेमघन का। भारतेन्दु प्रेमघन के रंग में रंग गए। वे भी कजलियाँ लिखने लगे और समय-समय पर प्रेमघन से मिलते रहे। प्रेमघन रीतिकालीन कवि बिहारी लाल से प्रभावित थे तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भक्तिकालीन कवि तुलसीदास से। यह बात जरूर थी कि प्रेमघन बनारस गए लेकिन वहाँ से वापस भी लौट आए। वे बनारस में बसे नहीं।

साहित्य गंगा के मिरजापुर से होकर बनारस जाने के तीसरे आ–चरण हैं केदारनाथ पाठक। पाठक जी प्रेमघन के मासिक 'आनन्द कादम्बिनी' के सहायक संपादकों में थे, परन्तु वे 1895 में बनारस चले गए। पाठक जी के बनारस जाने की घटना बड़ी दिलचस्प है।

उस समय ठाकुर गदाधर सिंह मिरजापुर में सदर मजिस्ट्रेट थे। वे यात्रावृत्तांत और युद्धवृत्तांत की पुस्तकें लिखने के कारीगर भी थे। इन्होंने अपना पुस्तकालय प्रेमघन के पुस्तकालय से काफी बड़ा बनाया और केदारनाथ पाठक को पार्टटाइम लाइब्रेरियन नियुक्त कर लिया। राधाकृष्णदास एक-दो बार ठाकुर गदाधर सिंह की लाइब्रेरी में आए थे। इसी दौरान ठा. गदाधर सिंह का ट्रांसफर आगरा हो गया। इतनी बड़ी लाइब्रेरी मिरजापुर से आगरा ले जाना बहुत कठिन था। इसलिए ठाकुर साहब ने इसे बेच देना ही उचित समझा। जब राधाकृष्ण दास को पता चला तो वे मिरजापुर आए और उक्त पुस्तकालय को काशी नागरी सभा को दान करा देने की प्रार्थना केदारनाथ पाठक से की। पाठक जी के अनुनय-विनय से ठाकुर साहब मान गए परन्तु शर्त रखी कि इसके पुस्तकालयाध्यक्ष केदारनाथ पाठक ही रहें। राधाकृष्ण दास ने शर्त मंजूर कर ली। पुस्तकालय मिरजापुर से बनारस गया और काशी नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय बन गया। इसका आकार बढ़ता ही गया। अब तो एक सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष की जरूरत पड़ी। उस समय रामचन्द्र शुक्ल एफ.ए. की पढ़ाई करते हुए प्रेमघन के मासिक में सहायक सम्पादक भी थे। पं. केदारनाथ पाठक को शुक्ल जी को अपना सहायक बनाना ज्यादा उत्थानपरक लगा। इसलिए सन् 1907-08 में शुक्लजी मिरजापुर से बनारस चले गए।

अब बारी थी बंगमहिला की। राजेन्द्र बालौ घोष (बंगमहिला) भी प्रेमघन के मासिक पत्र 'आनन्द कादम्बिनी' में काम करती थीं, परन्तु केदारनाथ पाठक और रामचन्द्र शुक्ल के सम्मिलित दबाव से बनारस चली गईं।

बनारस में उपन्यास का पेटा तो भरा हुआ था लेकिन कहानी के लिए जगह खाली थी। बंगमहिला ने कहानियों का खाता खोला। कहानियों के समान्तर स्त्री स्वातन्त्र्य की भी आवाज उठाई। परिणाम यह हुआ कि रामचन्द्र शुक्ल के सम्पादकत्व में 1910 ई. में बंगमहिला की एक पुस्तक, जिसका नाम 'कुसुम संग्रह' रखा गया, प्रकाशित की गई। प्रकाशक बने

अपूर्वकान्त घोष, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद। सन् 1904 में 'चन्द्रदेव से मेरी बातें', 1906 में 'कुम्भ में छोटी बहू', 1907 में 'दुलाईवाली', 1908 में 'भाई-बहन', 1915 में 'हृदय-परीक्षा' और 'मन की दृढ़ता' शीर्षक कहानियाँ कहानी-खाते में जमा हुईं।

'कुसुम संग्रह' में नारी मुक्ति के लिए लेख छपे। वैसे लेख बनारस में नदारद थे। मसलन 1906 ई. में स्त्रियों की शिक्षा, 1908 में हमारे देश में स्त्रियों की दशा जैसे लेखों से उत्तर भारतीय संभाग में नया बवंडर खड़ा हुआ। बंगमहिला का विरोध हुआ। यहाँ तक कि आ. रामचन्द्र शुक्ल और सरस्वती के साधक महावीर प्रसाद द्विवेदी तक ने बंग महिला के नारी मुक्ति का लिखित विरोध किया। जिस रामचन्द्र शुक्ल ने पुस्तक का संपादन किया उन्होंने भी पाद टिप्पणी में लिख दिया कि जो शिक्षा नारी को मेम बना दे उस शिक्षा का मैं विरोधी हूँ। इसी प्रकार जिस महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बंगमहिला की अधिकतर रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित की, उन्होंने एक महिला द्वारा उनका लिखित विरोध कराया।

बात ग्रीव्स, प्रेमघन, केदारनाथ पाठक, रामचन्द्र शुक्ल और बंगमहिला तक समाप्त नहीं होती। इन सब लोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण साबित हुए पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'। ये भी चुनार (मिरजापुर) से बनारस गए थे।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का चुनार से बनारस जाना बड़ी दर्दनाक परन्तु दिलचस्प घटना है। मौलवी लियाकत अली का वाक्य 'हिन्दुओं के देवता तो मेरे पाजामे में बन्द रहते हैं' (अपनी खबर, पृ. 92) की घटना छोड़ दी जाए तो उग्र जी बकलम खुद कहते हैं कि 'संयोगवशात् उन्हीं दिनों काशी में चचा के यहाँ उनकी लड़की का गौना पड़ा, जिसमें सम्मिलित होने के लिए घरवाले बनारस गए थे।' (पृ. 92, 93) मौका पाकर उग्र जी बनारस पहुँच गए यानी इस बार गंगा चुनार से होकर बनारस पहुँची थी। गंगा चुनारवी ने गंगा बनारसी को कृतकृत्य कर दिया।

उग्र को चॉकलेटी 'अभिज्ञान धारणम्' का मौका बनारस में ही मिला। उन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित 'मतवाला' में 'कमरिया नागिन सी बलखाय' और 'हम फिदाए लखनऊ' शीर्षक कहानियाँ बनारसी गुरुओं के

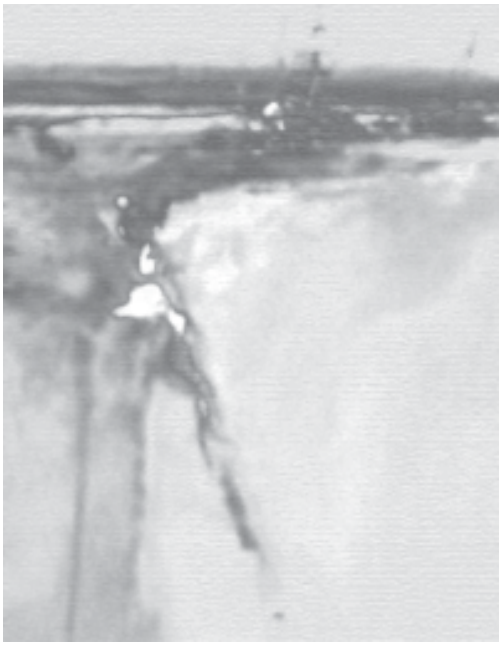

अन्तःजीवन टटोलने के बाद ही लिखी थीं। इसके भी पहले रामलीला मण्डलियों में 'चॉकलेट' के नज राने देते-पाते मंडलेशों और बटुकों को भी देखा था। 'मतवाला' में उग्र का कहानी संग्रह 'चॉकलेट' प्रकाशित हुआ। यह कहानी संग्रह वैसे ही बवंडर में फँस गया जैसे बंगमहिला का कहानी संग्रह 'कुसुम संग्रह' बवंडर में फँस गया था। दोनों बवंडरों में लेखकों के चरित्र का हनन शामिल था। उग्र के चरित्र पर तो डॉ. रामविलास शर्मा जैसे बड़े लेखक ने भी चढ़ाई कर दी थी। (निराला की साहित्य साधना, भाग 1)

यहाँ यह भी जान लेना जरूरी है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मिरजापुर जाने से पहले डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल मिरजापुर से बनारस गए थे।

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल के पिता महादेव प्रसाद जायसवाल मिरजापुर के एक बड़े सामंत थे। ये नियमित रूप से नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सदस्य थे। सदस्यता शुल्क वार्षिक दिया करते थे। वादा तो किया था आजीवन सदस्य बनाने का लेकिन बन नहीं पाए थे। जब काशी प्रसाद जायसवाल बनारस पहुँचे तो बाबू श्यामसुन्दर दास ने इन्हें सभा द्वारा प्रकाशित पत्रिका का सहायक सम्पादक नियुक्त कर दिया। इसी पत्रिका में इनका 'कौशाम्बी' शीर्षक लेख छपा जो बहुत प्रसिद्ध हुआ। यह लेख अभी अप्राप्त नहीं है।

नागरी प्रचारिणी सभा में रहते हुए काशी प्रसाद जायसवाल को बार-एट-लॉ करने के लिए इंग्लैण्ड भेजने की संस्तुति मिरजापुरी लेखक केदारनाथ पाठक की सहमति से हुई थी। यह समाचार 'वेंकटेश समाचार' मुम्बई में प्रकाशित हुआ था। इस समाचार को पढ़कर रामचन्द्र शुक्ल काफी क्षुब्ध हुए थे, क्योंकि मिरजापुर में ये दोनों दो दलों के मुखिया थे और दोनों दलों में साहित्यिक पैंतरेबाजी होती रहती थी इस पैंतरेबाजी में बाहुबल काशी प्रसाद जायसवाल के पास था तथा भाषा और साहित्य बल रामचन्द्र शुक्ल के पास, परन्तु बाहुबल हमेशा विजयी होता था।

शुक्लजी का क्षुब्ध होना इसलिए भी स्वाभाविक था कि वे केदारनाथ पाठक को अपना मानते थे। वे अपने क्षोभ को रोक नहीं पाए इसलिए उन्होंने रमईपट्टी से 23 अगस्त 1906 को पाठक जी को पत्र लिखा जिसमें अपना विरोध ''कोटाधीश विलायत में बैरिस्टरी भी पढ़ेंगे और व्यापार भी संभालेंगे। 'वेंकटेश समाचार' में 'हिन्दी लेखक का विलायत गमन' देखा। यह गमन समय में आप लिखवाते गए हैं। ('द्विवेदी युगीन साहित्यकारों के कुछ पत्र', संपादक बैजनाथ सिंह 'विनोद', प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ.प्र., इलाहाबाद, पृ. 219)

मिरजापुर से बनारस जाने और नामी साहित्यकार होने का क्रम कुशवाहाकान्त ने (चिनगारी के संपादक) आगे बढ़ाया। बनारस जाकर उन्होंने एक दर्जन उपन्यास लिखे किन्तु दुर्भाग्यवश किसी प्रसंग में उनकी हत्या हो गई।

मिरजापुर से बनारस जाने की आखिरी कड़ी डॉ. नामवर सिंह हैं क्योंकि इनके प्रपितामह गहरवार कंतित राज से बनारस गए थे और वहीं खेती-बारी तथा अध्ययन-अध्यापन का काम करने लगे। चौथी पीढ़ी में पैदा हुए नामवर सिंह जी दिल्ली में रहते हुए अब बनारसी माने जाते हैं।

स्पष्ट है कि मिरजापुर से बनारस जाकर विख्यात रचनाकार बनने का जो ताँता आधुनिक काल (सन् 1850 से अब तक) में बँधा वह आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में नहीं उपलब्ध है।

प्रेमघन मार्ग, मिर्जापुर उ.प्र. मो. 9415928434

'प्रेमघन' की छाया-स्मृति

श्रीयुत प्रो. पं. रामचन्द्र जी शुक्ल, बी.ए.

मेरे पिताजी फारसी के अच्छे ज्ञाता और पुरानी हिन्दी-कविता के बड़े प्रेमी थे। फारसी-कवियों की उक्तियों को हिन्दी-कवियों की उक्तियों के साथ मिलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। वे रात को प्रायः रामचरितमानस और रामचन्द्रिका, घर के सब लोगों को एकत्र करके, बड़े चित्ताकर्षक ढंग से पढ़ा करते थे। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दुजी के नाटक उन्हें बहुत प्रिय थे। उन्हें भी वे कभी-कभी सुनाया करते थे। जब उनकी बदली हमीरपुर जिले की राठ तहसील से मिरजापुर हुई तब मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी। उसके पहले ही से भारतेन्दु के सम्बन्ध में एक अपूर्व मधुर भावना मेरे मन में जगी रहती थी। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी। 'हरिश्चन्द्र' शब्द से दोनों की मिली-जुली भावना एक अपूर्व माधुर्य का संचार मेरे मन में करती थी। मिरजापुर आने पर कुछ दिनों में सुनाई पड़ने लगा कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के एक मित्र यहाँ रहते हैं, जो हिन्दी के एक प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका नाम है उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी।

भारतेन्दु-मण्डल की किसी सजीव स्मृति के प्रति मेरी कितनी उत्कण्ठा रही होगी, यह अनुमान करने की बात है। मैं नगर से बाहर रहता था। एक दिन बालकों की एक मण्डली जोड़ी गई। जो चौधरी साहब के मकान से परिचित थे, वे अगुआ हुए। मील-डेढ़-मील का सफ र तय हुआ। पत्थर के एक बड़े मकान के सामने हम लोग जा खड़े हुए। नीचे का बरामदा खाली था। ऊपर का बरामदा सघन लताओं के जाल से आवृत्त था। बीच-बीच में खम्भे और खुली जगह दिखाई पड़ती थी। उसी ओर देखने के लिए मुझसे कहा गया। कोई दिखाई न पड़ा। सड़क पर कई चक्कर लगे। कुछ देर पीछे एक लड़के ने उँगली से ऊपर की ओर इशारा किया। लता-प्रतान के बीच एक मूर्ति खड़ी दिखाई पड़ी। दोनों कन्धों पर बाल बिखरे हुए थे। एक हाथ खम्भे पर था। देखते-ही-देखते वह मूर्ति दृष्टि से ओझल हो गई। बस, यही पहली झाँकी थी।

ज्यों-ज्यों मैं सयाना होता गया, त्यों-त्यों हिन्दी के नूतन साहित्य की ओर मेरा झुकाव बढ़ता गया। क्वींस कॉलेज में पढ़ते समय स्वर्गीय बा. रामकृष्ण वर्मा मेरे पिताजी के सहपाठियों में थे। भारत जीवन-प्रेस की पुस्तकें प्रायः मेरे यहाँ आया करती थीं; पर अब पिताजी उन पुस्तकों को छिपा कर रखने लगे। उन्हें डर हुआ कि कहीं मेरा चित्त स्कूल की पढ़ाई से हट न जाए–मैं बिगड़ न जाऊँ। उन्हीं दिनों पं. केदारनाथजी पाठक ने एक हिन्दी-पुस्तकालय खोला था। मैं वहाँ से पुस्तकें ला-लाकर पढ़ा करता। एक बार एक आदमी साथ करके मेरे पिताजी ने मुझे एक बारात में काशी भेजा। मैं उसी के साथ घूमता-फिरता चौखम्भे की ओर जा निकला। वहीं पर एक घर में से पं. केदारनाथजी पाठक निकलते दिखाई पड़े। पुस्तकालय में वे मुझे प्रायः देखा करते थे। इससे मुझे देखते ही वे वहीं खड़े हो गए। बात-ही-बात में मालूम हुआ कि जिस मकान में से वे निकले थे, वह भारतेन्दु जी का घर था। मैं बड़ी चाह और कुतूहल की दृष्टि से कुछ देर तक उस मकान की ओर, न जाने किन भावनाओं में लीन होकर, देखता रहा। पाठकजी मेरी यह भावुकता देख बड़े प्रसन्न हुए और बहुत दूर तक मेरे साथ बात-चीत करते हुए गए। भारतेन्दुजी के मकान के नीचे का यह हृदय-परिचय बहुत शीघ्र गहरी मैत्री में परिणत हो गया।

16 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक खासी मण्डली मुझे मिल गई। जिनमें श्रीयुत काशी प्रसाद जी जायसवाल, बा. भगवानदासजी हालना, पं. बदरीनाथ गौड़, पं. उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे। हिन्दी के नए-पुराने लेखकों की चर्चा बराबर इस

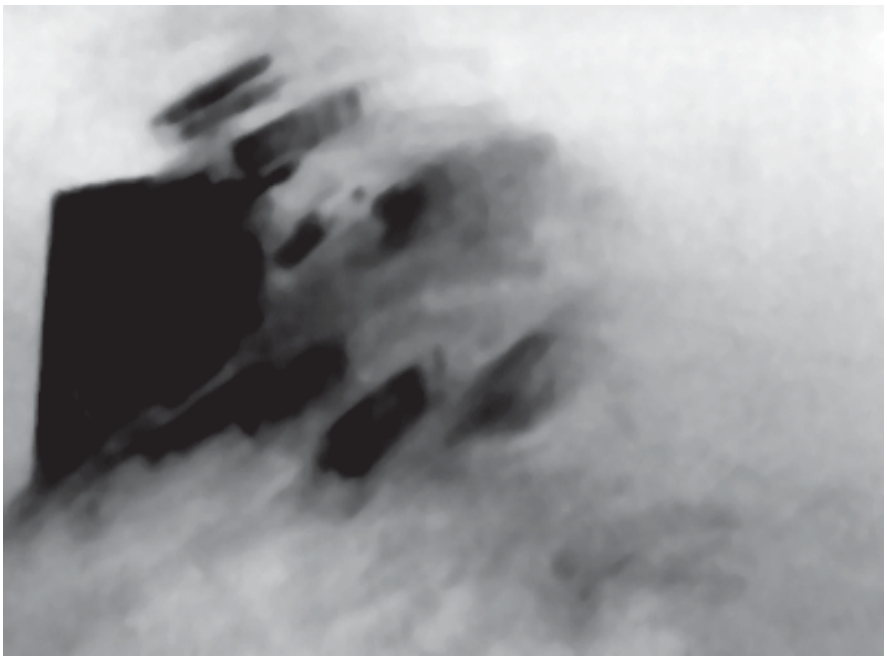

मण्डली में रहा करती थी। मैं भी अब अपने को एक लेखक मानने लगा था। हम लोगों की बातचीत प्रायः लिखने-पढ़ने की हिन्दी में हुआ करती, जिसमें 'निस्सन्देह' इत्यादि शब्द आया करते थे। जिस स्थान पर मैं रहता था, वहाँ अधिकतर वकील-मुख्तारों तथा कचहरी के अफसरों और अमलों की बस्ती थी। ऐसे लोगों के उर्दू-कानों में हम लोगों की बोली कुछ अनोखी लगती थी। इसी से उन्होंने हम लोगों का नाम 'निस्सन्देह लोग' रख छोड़ा था। मेरे मुहल्ले में कोई मुसलमान सब जज आ गए थे। एक दिन मेरे पिताजी खड़े-खड़े उनके साथ कुछ बातचीत कर रहे थे। इसी बीच मैं उधर जा निकला। पिताजी ने मेरा परिचय देते हुए उनसे कहा–'इन्हें हिन्दी का बड़ा शौक है।' चट जवाब मिला–'आपको बताने की जरूरत नहीं। मैं तो इनकी सूरत देखते ही इस बात से वाकिफ हो गया।' मेरी सूरत में ऐसी क्या बात थी, यह इस समय नहीं कह सकता। आज से तीस वर्ष पहले की बात है।

चौधरी साहब से तो अब अच्छी तरह परिचय हो गया था। अब उनके यहाँ मेरा जाना एक लेखक की हैसियत से होता था। हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्व की दृष्टि में प्रेम और कुतूहल का एक अद्‌भुत मिश्रण रहता था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक खासे हिन्दुस्तानी रईस थे। बसंत पंचमी, होली, इत्यादि अवसरों पर उनके यहाँ खूब नाच रंग और उत्सव हुआ करते थे। उनकी हर एक अदा से रियासत और तबीयतदारी टपकती थी। कन्धों तक बाल लटक रहे हैं। आप इधर से उधर टहल रहे हैं। एक छोटा-सा लड़का पान की तश्तरी लिए पीछे-पीछे लगा हुआ। बात की काट-छाँट का क्या कहना है! जो बातें उनके मुँह से निकलती थीं, उनमें एक विलक्षण वक्रता रहती थी। उनकी बातचीत का ढंग उनके लेखों के ढंग से एकदम निराला होता था। नौकरों तक के साथ उनका संवाद सुनने लायक होता था। अगर किसी नौकर के हाथ से कभी कोई गिलास वगैरह गिरा, तो उनके मुँह से यही निकलता कि 'कारे बचा त नाहीं।' उनके प्रश्नों के पहले 'क्यों साहब' अक्सर लगा रहता था।

वे लोगों को प्रायः बनाया करते थे, इससे उनसे मिलनेवाले लोग भी उन्हें बनाने की फिक्र में रहा करते थे। मिरजापुर में पुरानी परिपाटी के एक बहुत ही प्रतिभाशाली कवि रहते थे, जिनका नाम था–वामनाचार्य गिरि। एक दिन वे सड़क पर चौधरी साहब के ऊपर एक कवित्त जोड़ते चले जा रहे थे। अन्तिम चरण रह गया था कि चौधरी साहब अपने बरामदे में कन्धों पर बाल छिटकाए खम्भे के सहारे खड़े दिखाई पड़े। चट कवित्त पूरा हो गया और वामनजी ने नीचे से वह कवित्त ललकारा, जिसका अन्तिम अंश था–**खम्बा टेकि खड़ी जैसे नारि मुगलाने की।**

एक दिन कई लोग बैठे बातचीत कर रहे थे, कि इतने में एक पण्डितजी आ पहुँचे। चौधरी साहब ने पूछा–'कहिए क्या हाल है?' पण्डित जी बोले–'कुछ नहीं, आज एकादशी थी, कुछ जल खाया और चले आ रहे हैं।' प्रश्न हुआ–'जल ही खाया है कि कुछ फलहार भी पिया है।'

एक दिन चौधरी साहब के एक पड़ोसी उनके यहाँ पहुँचे। देखते ही सवाल हुआ–'क्यों साहब, एक लफ ज मैं अक्सर सुना करता हूँ; पर उसका ठीक अर्थ समझ में न आया। आखिर घनचक्कर के क्या मानी हैं, उसके क्या लक्षण हैं?' पड़ोसी महाशय बोले–'वाह, यह क्या मुश्किल बात है। एक दिन रात को सोने के पहले कागज-कलम लेकर सबेरे से रात तक जो-जो काम किए हों, सब लिख जाइए और पढ़ जाइए।'

मेरे सहपाठी पण्डित लक्ष्मीनारायण चौबे, बा. भगवानदास हालना, बाबू भगवानदास मास्टर–इन्होंने उर्दू-बेगम नाम की एक बड़ी ही विनोद-पूर्ण पुस्तक लिखी थी, जिसमें उर्दू की उत्पत्ति, प्रचार आदि का वृत्तान्त एक कहानी के ढंग पर दिया गया था।–इत्यादि कई आदमी गर्मी के दिनों में छत पर बैठे चौधरी साहब से बात-चीत कर रहे थे। चौधरी साहब के पास ही एक लैम्प जल रहा था। लैम्प की बत्ती एक बार भभकने लगी। चौधरी साहब नौकरों को आवाज देने लगे। मैंने चाहा कि बढ़कर बत्ती नीचे गिरा दूँ; पर पण्डित लक्ष्मीनारायण ने तमाशा देखने के विचार से मुझे धीरे-से रोक लिया। चौधरी साहब कहते जा रहे हैं 'अरे, अब फूट जाई तबै चलत जाबह।' अन्त में चिमनी ग्लोब के सहित चकनाचूर हो गई; पर चौधरी साहब का हाथ लैम्प की तरफ न बढ़ा।

उपाध्याय जी नागरी को भाषा का नाम मानते थे। और बराबर नागरी भाषा लिखा करते थे। उनका कहना था कि नागर अपभ्रंश से, जो शिष्ट लोगों की भाषा विकसित हुई, वही नागरी कहलाई। इसी प्रकार से मिरजापुर न लिखकर मीरजापुर लिखा करते थे, जिसका अर्थ वे करते थे लक्ष्मीपुर-मीर=समुद्र + जा=पुत्री+पुर।

(प्रेमचन्द द्वारा 1932 में सम्पादित 'हंस' के आत्मकथा अंक से साभार)

'हिन्दी शब्द सागर' की 'प्रस्तावना' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पर उठा विवाद

शुक्ल जी पर लिखी जीवनियों से उद्धरण एक

शुक्लजी अपनी विषम स्थिति खूब समझते थे। लेकिन कोई रास्ता न था। बाबू साहब को नाराज करके वे सभा में रह नहीं सकते थे। सभा के लिए पं.रामनारायण मिश्र, ठाकुर शिवकुमार सिंह और बाबू श्यामसुन्दरदास रूपी 'त्रिसर्ग' के 'तेज' वे ही थे। अतः 'परम सत्य' के समान उसे प्रकाशित करने वाले बाबू साहब की उपासना ही वहाँ रहने की सबसे बड़ी योग्यता थी। 1927 तक के छोटे-मोटे कामों की शुक्लजी ने कोई परवा न की। लेकिन 1927 में कोशकार्य समाप्त हो जाने पर उसकी प्रस्तावना का प्रश्न उठा। इतने बड़े और प्रामाणिक कोश की भूमिका में 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' दिया जाना जरूरी समझा गया। यह काम कोश के प्रधान सम्पादक का था। फिर भी उन्होंने शुक्लजी को ही पकड़ा। शुक्लजी जानते थे कि यदि प्रस्तावना में मेरा नाम अलग से न दिया गया तो वह प्रधान सम्पादक की ही समझी जाएगी। इसलिए उन्होंने प्रस्तावना लिखना इस शर्त पर स्वीकार किया कि उसमें मेरा नाम अलग से दिया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि शुक्लजी का सारा परिवार इस शर्त पर अड़ न गया होता तो बाबू साहब के संकोच के सामने शुक्लजी की दृढ़ता टिक न सकती और प्रस्तावना बिना नाम ही छपी होती, क्योंकि बाबू साहब की कामना यही थी। इसके लिए पहले उन्होंने बहुत समझाया कि कोशों के भीतर नाम देने की चाल अंग्रेजी कोशों में नहीं है। पर जब उन्हें वेब्स्टर आदि कई नए-पुराने कोश दिखाकर शुक्लजी ने साफ कह दिया कि यदि अलग से उनका नाम न दिया जाएगा तो वे प्रस्तावना न लिखेंगे एवं इसके साथ ही यह भी कह दिया कि मैं प्रस्तावना को कोश के प्रथम संस्करण के लिए ही दूँगा और उसके बाद उसे पुस्तकाकार स्वतन्त्र छपवाने का मेरा पूरा अधिकार सुरक्षित रहेगा तब लाचार होकर बाबू साहब को शुक्लजी की शर्त माननी पड़ी और तदनुसार प्रस्तावना लिखी जाने लगी। उन्हें इस काम में पूरे आठ महीने लगे और कोश में प्रस्तावना देने की जल्दी मच गई। कोश इंडियन प्रेस की बनारस शाखा में छपता था। वहीं प्रस्तावना छपने का भी प्रबन्ध हुआ। छपाई प्रारम्भ होने के बाद बाबू साहब नित्य सवेरे टहलने जाते समय शुक्लजी के यहाँ से प्रूफ और नई कॉपी ले जाया करते थे। यह क्रम तीन महीने तक जारी रहा तब जाकर प्रस्तावना छप सकी। पहले प्रूफ बाबू साहब खुद देखा करते थे। लेकिन कुछ ही दिनों बाद शुक्लजी को एक मित्र ने बताया कि बाबू साहब अन्तिम प्रूफ में शुक्लजी का नाम हटाने की ठाने बैठे हैं। इसकी रोकथाम के लिए शुक्लजी ने स्वयं प्रूफ देखना शुरू कर दिया। अन्तिम प्रूफ के दो दिन पहले 'हरिऔध' जी ने सूचना दी कि बाबू साहब कह रहे थे कि उन्होंने दवा सोच ली है। शुक्लजी के प्रूफ पास कर देने पर वे प्रेस में जाकर उनका नाम निकलवा देंगे। छप जाने के बाद जो कुछ होगा देखा जाएगा। भारी चक्कर था। शुक्लजी ने कहा–'कोई दूसरा कहता तब तो मानने की बात नहीं थी। बाबू साहब ऐसी प्रकृति के मनुष्य नहीं हैं। उन्हें अपनी जबान का बड़ा ख्याल रहता है। बात मानकर फिर पीछे हटते आज तक मैंने उन्हें नहीं पाया। अतः उपाध्याय जी की बातों का सहसा विश्वास नहीं होता। लेकिन वे झूठ क्यों कहेंगे? आखिर उनसे यह सब झगड़ा बताया किसने? जो हो, हमें अपना इन्तजाम रखना चाहिए।' यह कहकर उन्होंने अपने छोटे भाई जगदीशचन्द्र जी को इन पंक्तियों के लेखक के साथ उक्त प्रेस में यह देखने के लिए तैनात किया कि अन्तिम पृष्ठ पर उनका नाम छपता है या नहीं। साथ ही यह हिदायत भी दी कि इस प्रकार 4-5 सौ पृष्ठ छप जाने पर उसकी एक कॉपी लेकर लौटना। इस तरह समझाकर वे हमें लेकर उक्त प्रेस में गए। मैनेजर और मशीनमैन से परिचय कराके वे नौ बजे रात लौट आए। इस आदेश के अनुसार 12 बजे रात हम लोग उक्त नमूना लेकर लौटे। दूसरे दिन यह सब सुनकर बाबू साहब ने पं. केशवप्रसाद मिश्र से कहा–''मैंने उपाध्याय जी का कौतूहल देखकर उनसे मजाक किया था। क्या जानता था कि शुक्लजी उनके चक्कर में पड़ जाएँगे।'' यह है प्रस्तावना के छपने का कच्चा चिट्ठा। अब देखिए बाबू साहब ने किस तरह से इसे लिखा है–

'प्रस्तावना में हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास है। हिन्दी भाषा का इतिहास मेरी भाषा-विज्ञान नामक पुस्तक के अन्तिम अध्याय का परिमार्जित और परिवर्धित रूप है। साहित्य का इतिहास पं.रामचन्द्र शुक्ल का लिखा है। शुक्लजी का स्वभाव था कि वे किसी काम को समय पर नहीं कर सकते थे। उसे टाल रखते थे और प्रायः धीरे-धीरे काम करते थे। इसका मुझे पूरा-पूरा अनुभव था। पहले हम लोगों का

विचार था कि शुक्लजी और मैं दोनों मिलकर साहित्य का इतिहास तैयार करें और पीछे जब साहित्य के इतिहास की हिन्दी शब्द-सागर में प्रस्तावना रूप से देने की जल्दी मची तब इस विचार में परिवर्तन हुआ। प्रूफ को शुक्लजी के पास भेज दिया जाता था। प्रातःकाल जब मैं घूमने निकलता था तब उनके यहाँ जाता और प्रूफ तथा नई कॉपी ले आता। यह क्रम महीनों चला। तब जाकर यह अंश छप सका। जब प्रस्तावना का अन्तिम पृष्ठ छपने को था तब शुक्लजी ने बिना कुछ कहे-सुने प्रेस में जाकर प्रस्तावना के अन्त में अपना नाम दे दिया। यह कृति तो उत्कृष्ट थी ही। अतएव इस पर अभिमान होना कोई आश्चर्य की बात न थी। पर इस प्रकार अपना चुपचाप नाम छपवा देने में दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि वे किसी के सहयोग में काम करने को उद्यत न थे और दूसरे अनजाने में उन्होंने मेरे भाषा के इतिहास को भी अपना लिया।

'ऐसी ही एक घटना तुलसी-ग्रन्थावली के सम्बन्ध में हुई। उसके तृतीय भाग में भिन्न-भिन्न लोगों के लेख थे। प्रस्तावना शुक्लजी की लिखी हुई थी। उसके दो खण्ड चरित्र खण्ड और आलोचना-खण्ड थे। यद्यपि भूमिका में शुक्लजी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था, पर भ्रम के लिए स्थान था।...इसके कुछ दिनों बाद शुक्लजी ने मुझसे स्पष्ट कह दिया कि हम फरमायशी काम नहीं कर सकते। उस दिन से फिर मैंने कभी किसी ग्रन्थ के लिखने के लिए उनसे नहीं कहा। इसका क्या परिणाम हुआ यह मेरे कहने की बात नहीं है।'

यह है हिन्दी शब्द सागर की प्रस्तावना पर उसके प्रधान सम्पादक का प्रामाणिक बयान। प्रस्तावना लिखी जाने के पहले ही उसके बारे में सारी बातें तय हो चुकी थीं। बाबू साहब का यह लिखना कि शुक्लजी उनके साथ मिलकर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने को भी तैयार थे उनकी निराधार कल्पना है। शुक्लजी कहा करते थे कि इतिहास में बाबू साहब की गति नहीं है। वे उनके साथ लिखने को कैसे तैयार होते?

वस्तुतः बाबू साहब का शुक्लजी से यह कहना ही कि 'आइए हम और आप मिलकर साहित्य का इतिहास तैयार करें' प्रस्तावना के झगड़े का मूल है। 1919 में शुक्लजी के विश्वविद्यालय में नियुक्त हो जाने से उनका सभा आना-जाना बहुत कम हो गया था। कोश का काम अब वे अपने घर ही मँगा लिया करते थे। 1921 तक एक प्रकार से सम्पादन का कार्य समाप्त हो चुका था। अब संशोधित और सम्पादित स्लिपों को बाबू रामचन्द्र वर्मा, पं.ब्रजभूषण ओझा से साफ-साफ उतरवाकर उन्हें अक्षर-क्रम से लगाने के बाद प्रेस में भेजने की स्वीकृति के लिए शुक्लजी के पास सभा से भेज दिया करते थे। अक्सर इन साफ की हुई स्लिपों की अशुद्धियाँ सुधारने के लिए ओझा जी को शुक्लजी के यहाँ रात-दिन टिक जाना पड़ता था। प्रिण्ट आर्डर देने के लिए बाबू साहब ने यह प्रबन्ध किया था कि आर्डरी प्रूफ पर शुक्लजी की अनुमति लेने के बाद वर्मा जी उसे उनकी सेवा में भेजा करें। यह क्रम अन्त तक चलता रहा। सारांश यह कि कोश का कार्य सभा में अब अकेले वर्मा जी के हाथ में था। ओझा जी उनके सहायक थे। सब काम शुक्लजी के यहाँ पक्का होकर बाबू साहब के पास जाता था। इस तरह 6-7 वर्षों में यह कोश छपा। परिशिष्ट तो अन्त तक छपता रहा।

1921 में जब बाबू साहब भी विश्वविद्यालय में आ गए तब उन्होंने शुक्लजी से हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखकर कोश की भूमिका में देने की बात चलाई। तदनुसार 1922-23 से ही शुक्लजी ने कार्यारम्भ कर दिया। 1927 में शुक्लजी के इस इतिहास का प्रारूप करीब-करीब तैयार हो चुका था। इसे देखकर बाबू साहब ने प्रस्ताव किया कि कोश में देने के बाद थोड़ा घटा-बढ़ाकर दोनों आदमियों के संयुक्त नाम से उसे अलग पुस्तकाकार छपवाया जाए। बस उनकी यह बात शुक्लजी को खटक गई। अतः वे समझ गए कि कोश की प्रस्तावना में अपने उस इतिहास को बिना किसी स्पष्ट संकेत के देने का अर्थ क्या है। सात-आठ साल के अपने परिश्रम को वे इस प्रकार व्यर्थ नहीं होने देना चाहते थे। प्रस्तावना में अपना नाम देने के उनके हठ का रहस्य यही था और उनके ऐसा करने से बाबू साहब के रोष का भेद भी यही था। इस पर बाबू साहब का यह लिखना कि 'जब प्रस्तावना का अन्तिम पृष्ठ छपने को था तब शुक्लजी के बिना कुछ कहे-सुने प्रेस में जाकर प्रस्तावना के अन्त में अपना नाम दे दिया।...पर इस प्रकार चुपचाप अपना नाम छपवा देने में दो बातें स्पष्ट हुईं।...' वितंडा है। यह कौन मान सकता है कि पहले से तय न रहने पर प्रेस वाले शुक्लजी को ऐसा करने देते? बाबू साहब कानूनन उन्हें रोक सकते थे। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि जब पहले से कुछ तय नहीं था तब सभा में शुक्लजी की इसी प्रस्तावना को हिन्दी-साहित्य के इतिहास के नाम से अलग स्वतन्त्र रूप से दूसरे ही साल पुस्तकाकार क्यों प्रकाशित करने दिया और उसी के परिवर्धित और संशोधित संस्करण पर 1936 में 20 प्रतिशत रायल्टी देकर स्वयं को उसे क्यों प्रकाशित किया? कृति उत्कृष्ट है इसका प्रमाण तो लोक में उसकी मान्यता और बिक्री आज तीस वर्ष बाद भी चिल्ला-चिल्लाकर दे रही है। इस घटना से जो दूसरी बात बाबू साहब निकालते हैं वह भी उन्हीं के लिए उपयुक्त है। पहले तय यह था कि भाषा के इतिहास के अन्त में बाबू साहब भी अपना नाम देंगे। लेकिन बाद में कुछ सोचकर उन्होंने ऐसा नहीं किया तथापि प्रस्तावना एक अलग अंश है। भाषा का इतिहास और साहित्य का इतिहास उसके दो स्वतन्त्र खण्ड हैं। एक खण्ड का हस्ताक्षर दूसरे को कैसे आत्मसात् कर सकता है? बाबू साहब का यह तर्क साधारण बुद्धि के बाहर है! अच्छा हुआ जो बाबू साहब ने अपनी जीवनी को 27/10/40 को ही समाप्त करके शुक्लजी के निधन के बाद प्रकाशित किया। अन्यथा अपने बारे में बाबू साहब के इन विचारों से उन्हें हार्दिक वेदना होती। बाबू साहब के बारे में उनका ख्याल इतना ऊँचा था।

परिणाम के बारे में भी बाबू साहब ने लिखा है–''इसका क्या परिणाम हुआ यह मेरे कहने की बात नहीं है।'' बात बिल्कुल ठीक है। जो बात आज हिन्दी-संसार कह रहा है उसे बीस वर्ष पहले बाबू साहब कैसे कह सकते थे? प्रस्तावना के इस झगड़े का एक नतीजा प्रत्यक्ष है। और यह है हिन्दी-जगत् में शुक्लजी की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा। यदि यह झगड़ा न हुआ होता तो बहुत सम्भव था कि शुक्लजी का असली रूप अन्त तक छिपा ही रह जाता।

इस झगड़े के बाद भी बाबू साहब पर शुक्लजी की विद्वता की धाक पूर्ववत बनी रही। किन्तु मन में गाँठ पड़ गई जो शुक्लजी की मृत्यु भी न खोल सकी। अपनी जीवनी के

पृष्ठ 178 पर वे लिखते हैं–

'विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित अधिकारी ने मुझसे एक दिन बातों के सिलसिले में कहा कि एक उदार महाशय ने (शुक्लजी (?) किसी उच्चतम अधिकारी (मालवीयजी?) से जाकर कहा कि यह ग्रन्थ (भाषा-विज्ञान) तुम्हारा लिखा नहीं है। दूसरे से लिखवाकर तुमने अपना नाम दिया है। मैंने किसी से इस बात को नहीं कहा, मन में ही रखा। आज पहले-पहल प्रकाशित कर रहा हूँ। शुक्लजी की परिवर्तित भावना का एक नमूना और देना चाहता हूँ। अभ्युदय के एक संवाददाता ने 1934 में शुक्लजी से मिलकर कुछ प्रश्न किए जिसका प्रकाशन उस पत्र में हुआ। उसमें एक प्रश्न यह था कि 'क्या आपने भाषा-विज्ञान लिखा है?' कुछ उत्तर न देकर शुक्लजी ने मुस्करा दिया। इससे जो अनुमान हो सकता है वह स्पष्ट है। मुस्कराहट का यह अर्थ था कि हाँ, पुस्तक उन्हीं की लिखी है।'

मुस्कराहट के अनुमान पर यदि किसी को हँसी आ जाए तो आश्चर्य नहीं, शुक्लजी का अभिप्राय यही हो सकता है कि वे ऐसे दिग्गज नहीं कि वैसी कल्पना कर सकें।

प्रस्तावना पर हुए इस विरोध से बाबू साहब के हृदय में जो दरार पड़ी वह बराबर बढ़ती गई। यहाँ तक कि शुक्लजी का मन भी उनसे खट्टा हो गया। उसके बाद दोनों हृदय एक-दूसरे से दूर होते गए। कहने को तो बाबू साहब कह दिया करते थे कि इससे उनकी कोई क्षति नहीं हुई। पर मन ही मन सदा पछताते रहे। अपनी जीवनी के 178वें पृष्ठ पर वे लिखते हैं–

'जब कोश छप गया तब शुक्लजी के द्वितीय पुत्र ने आकर मुझसे कहा कि दोनों पुस्तकें भाषा और साहित्य का इतिहास एक ही जिल्द में छपें, पर नाम अलग-अलग रहें। मैं नहीं कह सकता कि उसने यह अपने मन से कहा या शुक्लजी के आदेशानुसार। मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और यह निश्चय किया कि मैं स्वयं साहित्य का इतिहास लिखूँगा। यह काम 1930 में सम्पन्न हुआ। ...बड़ी सज-धज से प्रकाशित हुआ।'

किन्तु बाबू साहब का मनस्ताप उनकी जीवनी के 180वें पृष्ठ के नीचे दिए वाक्य प्रकट कर रहे हैं–

'जिसने लंदन मिशन स्कूल से खींचकर साहित्य के महारथियों में स्थान पाने योग्य उन्हें बनाया, जिसने सदा उनकी सहायता की, सब अवसरों पर उन्हें उत्साहित कर-करके उनसे ग्रन्थ लिखवाए, उन्हें छपवाया और पुरस्कार दिलवाया तथा सदा उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया उसके प्रति यह 'उदारता' शुक्लजी या उनके जैसे लोगों को ही शोभा दे सकती है। मैंने इन सब बातों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा; पर जिस पेड़ को मैंने लगाया उसे काटने की बात तो दूर रही, उसे कभी खरोंच लगने तक का मैंने कभी स्वप्न भी नहीं देखा।'

इस उक्ति के विषय में पहली बात तो यह है कि शुक्लजी को लन्दन मिशन स्कूल से खींचकर काशी लाने का श्रेय पं.केदारनाथ पाठक को है। पाठक जी की दौड़-धूप और उनके प्रोत्साहन के बिना मिलने-जुलने से सदा बचते रहने वाले शुक्लजी शायद काशी आते ही नहीं। दूसरी बात यह है कि बाबू साहब ने उनकी योग्यता देखकर उनसे काम लिया और जहाँ एक हजार चाहिए वहाँ 500 ही दिलाए। साहित्य के महारथियों में स्थान भी उन्होंने अपनी विद्या, बुद्धि, प्रतिभा और अध्यवसाय के बल पर अपने लिए खुद बनाया। पुरस्कार देकर बाबू साहब ने उनकी योग्यता के सम्मान से अपनी और सभा की ही प्रतिष्ठा बढ़ाई। उससे शुक्लजी की योग्यता में कोई पर न लगा। शुक्लजी ऐसे सुकृतियों में हैं जो औरों को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। उनके लिए '-कुलं पवित्रं जननी कृतार्थ वसुंधरा पुण्यवती च तेन' बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है। उनके समान महापुरुषों के लिए ही नारद के भक्तिसूत्र कहते हैं कि वे 'पावयन्ति कुलानि, पृथिवीञ्च। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माण सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि। मोदन्तेपितरो नृत्यन्ति देवताः, सनाथा चेयं भूर्भवति' अतः शुक्लजी को बढ़ाना-घटाना कैसा? किन्तु 'खरोंच लगने' वाली बात पर दो शब्द जरूरी हैं।

सभा के शब्द-सागर की प्रस्तावना में शुक्लजी का लिखा हुआ हिन्दी-साहित्य का इतिहास थोड़े दिनों बाद अलग पुस्तकाकार निकला। जैसा बाबू साहब ने ऊपर बताया है, वह कृति तो उत्कृष्ट थी ही। दिन दूनी रात चौगुनी उसकी ख्याति बढ़ने लगी। 1936 में इस इतिहास को परिवर्धित और संशोधित रूप में प्रकाशित करके सभा ने उन्हें 20 प्रतिशत रॉयल्टी देकर जब 1940 में शुक्लजी को सभापति चुना तब बाबू साहब ने सक्रिय विरोध खड़ा कर दिया। अब उन्होंने जो कुछ किया उसका वर्णन उन्हीं के मुँह से सुन लीजिए। अपनी जीवनी के पृष्ठ 271 पर वे लिखते हैं–

'15 जुलाई सन् '37 को मैंने सभा से इस्तीफा दे दिया। 1837 को पं. रामनारायण मिश्र के सभापति चुने जाने के बाद मैंने सभा के किसी काम में कोई भाग न लिया।' फिर पृष्ठ 277 पर अपनी जीवनी समाप्त करते हुए उन्होंने लिखा–

'इस आत्मकहानी को मैंने 15-8-39 को लिखना आरम्भ किया और आज 25-10-40 को यहाँ पर समाप्त किया। आगे की परमात्मा जाने।' इस तरह जीवनी तो समाप्त हुई पर उनके हृदय को शान्ति न मिली। उन्हें सन्तोष न हुआ।

शुक्लजी से उऋण होने की कथा तो बाकी ही रह गई। बड़ा अफसोस हुआ और व्यास जी के भागवत और हरिवंश की तरह उन्होंने भी अपनी जीवनी में 17वाँ और 18वाँ पर्व जोड़कर समाप्ति की तिथि 26-8-40 डाल दी। उन्हें यह स्मरण न रहा कि इसके पहले वे 277वें पृष्ठ पर लिख चुके हैं कि 'आज 25-10-40 को यहाँ पर समाप्त किया। आगे की परमात्मा जाने।' इनमें महत्त्व 17वें का ही है। उसमें यहाँ से वहाँ तक उनके अपने लगाए पेड़ (शुक्लजी) के काटने और खरोंच लगाने के प्रयत्नों का ही विवरण है। यही बड़ा भी है। दूसरा इसका पुछल्ला या आवरण मात्र है। यहाँ इससे कुछ अंश उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

पृष्ठ 176 पर बाबू साहब लिखते हैं–

'हिन्दी-शब्दसागर की प्रस्तावना के स्वरूप में पं.रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा है। यह पीछे से पुस्तकाकार छपा और इसके लिए हजार-बारह सौ पुरस्कार दिया गया। गत वर्ष (सन् 1939) शुक्लजी ने उसका संशोधित और परिवर्धित संस्करण तैयार किया जो अभी तक पूर्णतया छपकर प्रकाशित नहीं हुआ। इस नवीन संस्करण के सम्बन्ध में सभा ने निश्चय किया कि इस पर शुक्लजी को 20 रु. सैकड़ा रायल्टी दी जाए। यह इतिहास सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला में प्रकाशित हुआ है। इस माला के कुछ ग्रन्थों को इण्डियन

प्रेस प्रकाशित करता और सभा को 20 रु. सैकड़ा रॉयल्टी देता है। सभा कार्यालय के व्यय के लिए पुस्तकमाला की बिक्री से 8 रु. सैकड़ा काट लेती है। इस प्रकार आयोजन का अर्थ यह हुआ कि 20 रु. आय और 28 रु. (32॥?) व्यय किया जाए। इस प्रकार कार्य करना क्या एक निधि के धन का सदुपयोग करना कहा जा सकता है?

'इन सब बातों का मैंने सभापति महाशय से विरोध किया। पर उनकी बातचीत से मेरी यह धारणा हुई कि वे इस प्रश्न को व्यक्तिगत विद्वेष का रूप देकर अपने कार्य का समर्थन करना चाहते हैं। अन्त में मैंने उन्हें एक पत्र लिखा जिसकी नकल नीचे दी जाती है।'

उक्त पत्र जीवनी के 280 और 281 पृष्ठ पर है। कुछ अंश देखिए–

'अब तक सभा का नियम रहा है कि उसके कार्यकर्ता तथा प्रबन्ध-समिति के सदस्य वे ही हो सकते हैं जिनका सभा से व्यापार सम्बन्ध न हो या जो वेतनभोगी न हों...पर रॉयल्टी लेकर काम करने वालों का पदाधिकारी होना या प्रबन्ध-समिति का सदस्य बनना सर्वथा अनुचित और अवांछनीय है।...

'ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका सम्बन्ध पं. रामचन्द्र शुक्ल को उनके इतिहास पर 20 रु. सैकड़ा रॉयल्टी देना तथा उनका सभापति चुना जाना और...है।'

फिर 282 पृष्ठ पर वे लिखते हैं–

'इसके अनन्तर एक दिन पं.रामनारायण मिश्र से भेंट हुई और यह ठहरी कि डॉ. सच्चिदानन्द सिंह से पूछा जाए कि यह कार्य वैध है या अवैध। मैंने पाण्डुलिपि तैयार की जिसे मिश्रजी ने स्वीकार नहीं किया।' इसके बाद बाबू साहब अपने पत्र की पाण्डुलिपि और उसकी जगह भेजे हुए मिश्र जी के पत्र की पाण्डुलिपि देकर पृष्ठ 284 पर लिखते हैं–

'इस पत्र को देखकर मेरे मन में यह धारणा हुई कि यहाँ न्याय और सभा के हित का ध्यान न रखकर अपने किए की महत्ता को बनाए रखना ही उद्देश्य है। मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता था कि किसी निधि की आय 20 रु. सैकड़ा हो और व्यय 28 रु. (32॥?) किया जाए। साथ ही सभा के हित के ध्यान से मैं यह नहीं मान सकता था कि किसी पुस्तक को लेकर जिनका व्यापारिक सम्बन्ध 50-60 वर्ष तक चलता रहे उनका पदाधिकारी या प्रबन्ध-समिति का सदस्य होना उचित है। पर मेरे लिए यही उपाय था कि मैं चुप हो रहूँ।'

यह है बाबू श्यामसुन्दरदास जी के हृदय में गड़ा हुआ प्रस्तावना-रूपी काँटा जो अन्त तक न निकल सका। और वे एक ही मील पर रहते हुए भी उनकी अंत्येष्टि में सम्मिलित न हुए। शुक्लजी ने अलवर में नौकरी कर ली। मालवीयजी ने यह कहकर कि वे जाकर देख लें, वहाँ उनका मन न लगेगा और वे टिक न सकेंगे उन्हें साल भर की विशेष रियायती छुट्टी दे दी। बाबू साहब को यह मालूम न था। विश्वविद्यालय में पहुँचने के बाद 1920 से शुक्लजी से बाबू साहब उस ढंग से साहित्यिक काम नहीं करा पाते थे जिस ढंग से उनके सभा में रहने पर निकाल लिया करते थे। अब वे उन्हें अपने हाथ के बाहर समझने लगे थे इसलिए ऊपर से सौहार्द्र बनाए रखकर भीतर ही भीतर बराबर कोई न कोई चक्र चलाया करते थे। किन्तु अपने संकोची स्वभाव के कारण शुक्लजी बराबर बाबू साहब की बातों में आ जाया करते थे।

शुक्लजी के अलवर चले जाने पर बाबू साहब श्री सत्यजीवन वर्मा को शुक्लजी की जगह नियुक्त कराने के चक्कर में पड़ गए। किन्तु मालवीयजी और शुक्लजी में क्या तय था इसे न जानने के कारण उनका वार खाली गया। इसकी कथा भी बाबू साहब के ही शब्दों में अच्छी लगेगी। अपनी उक्त जीवनी के पृष्ठ 216 पर वे लिखते हैं–'एक समय शुक्लजी ने अलवर में नौकरी करने के लिए एक वर्ष की छुट्टी ली। उनकी जगह किसी की नियुक्ति आवश्यक थी। मुझे आदेश मिला कि किसी विद्यार्थी से काम लो। मैंने सत्यजीवन वर्मा को कार्यभार दिया। कुछ महीनों तक उसने काम भी किया। पर मालवीयजी ने आकर यह निश्चय किया कि नहीं, कोई नई नियुक्ति न होगी। विभाग में लोग आपस में काम बाँट लें। बेचारे सत्यजीवन को अलग होना पड़ा।'

(रामचन्द्र शुक्ल (जीवनी) चन्द्रशेखर शुक्ल से साभार)

हिन्दी शब्दसागर की भूमिका बनाम हिन्दी साहित्य का इतिहास (1929 ई.)

'हिन्दी शब्द सागर' की भूमिका शुक्ल जी अलग से लिखने लगे। उस भूमिका का कुछ अंश नागरी प्रचारिणी पत्रिका के कुछ अंकों प्रकाशित भी हुआ है। शुक्लजी संकोची स्वभाव के थे। अपनी बात खुलकर कह नहीं सकते थे और फिर बाबूजी के सामने बहुत कम बोलते थे। शुक्ल जी के संकोची स्वभाव का लाभ बाबूजी ने उठाया है। बाबूजी ने स्वयं उनके इस स्वभाव के सम्बन्ध में लिखा है। बाबूजी लिखते हैं–

''इनका चरित्र निर्दोष और स्वभाव अत्यन्त सरल था। इस सरलता और संकोच की मात्रा इतनी बढ़ी हुई थी कि स्वार्थी और कुचक्री लोग इनके पीछे पड़कर येन-केन-प्रकारेण अपना काम निकाल लेते थे, चाहे वह इनकी

रुचि और अन्तरात्मा के कितने ही विरुद्ध क्यों न हों।''*

उनके इस स्वभाव के सम्बन्ध में रायकृष्णदास जी ने अपने संस्मरण में लिखा है–

''उनका (शुक्ल जी का) सबसे बड़ा मानव-गुण उनका सौजन्य था। जहाँ तक हो सकता, शिष्टता को वह हाथ से न जाने देते। कोई उनके संग बुराई करे तो बदला लेने का भाव उनके हृदय में उत्पन्न ही न होता।... उनकी इस सज्जनता का लाभ साहित्यिक मगरमच्छ भी उठाते। जैसे सिन्दबाद को एक ऐसे लुंजे से काम पड़ा था जिसने उसके कन्धों पर सवारी कस ली थी और इस प्रकार यथेष्ट विचरण किया करता था। यह हाल एक महाशय ने शुक्ल जी का कर रखा था। उनकी कृतियों पर कृतियाँ आत्मसात् किए जा रहे थे। एक रात नौ बजे के लगभग शुक्ल जी मेरे पास पहुँचे और कहने लगे–'अब मेरे मर्डर में कोई कसर नहीं रह गई। अमुक चीज यों हड़प की गई, अमुक यों, अब अमुक चीज बच रही है, उस पर धावा बोला गया है।' मैंने कहा– 'घबराइए नहीं, जहाँ तक मेरा बस चलेगा, ऐसा न होने दूँगा।' राम कृपा से वह संकट किसी प्रकार टल गया।''**

साहित्यिक मर्डर–का सम्बन्ध निश्चित ही हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित है। स्वयं बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने अपने आत्मकहानी में इस सम्बन्ध में लिखा है। शुक्लजी जी के इतिहास पर उनकी दृष्टि थी और वे चाहते थे कि इतिहास दोनों के नाम से छपे।

उनकी आत्मकहानी की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

पहले हम लोगों का विचार था कि शुक्ल जी और मैं दोनों मिलकर साहित्य का इतिहास तैयार करें। इसी ध्येय को सामने रखकर वीरगाथाकाल का अध्याय हम लोगों ने लिखा और नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ।* पीछे जब साहित्य के इतिहास की हिन्दी शब्द सागर में प्रस्तावना रूप से देने की जल्दी मची जब इस विचार में परिवर्तन हुआ...'' एक तो यह कि वे (शुक्ल जी) किसी के सहयोग में अब काम करने को उद्यत न थे और दूसरे अनजाने में उन्होंने मेरे भाषा के इतिहास को भी अपना लिया। ऐसी ही एक घटना तुलसी ग्रन्थावली के सम्बन्ध में भी हुई। इसके तृतीय भाग में भिन्न-भिन्न लोगों के लेख थे। प्रस्तावना शुक्ल जी की लिखी हुई थी। उसके दो खण्ड चरित्र खण्ड और आलोचना खण्ड थे। चरित्र खण्ड मेरी एक कृति को घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत किया गया था। यद्यपि भूमिका में शुक्लजी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था, पर भ्रम के लिए स्थान था। मुझे आश्चर्य है कि यह भावना इतनी देर में क्यों प्रबल हुई। यदि यह पहले उत्पन्न हो जाती तो कदाचित् शब्द सागर के प्रत्येक शब्द पर, जो उनका सम्पादित किया हुआ था, कोई ऐसा चिह्न वे बना देते जिससे उनकी कृति स्पष्ट हो जाती। इसके कुछ दिनों बाद शुक्ल जी ने मुझसे स्पष्ट कह दिया–'हम फरमायशी काम नहीं कर सकते।' उस दिन से फिर मैंने कभी किसी ग्रन्थ के लिखने के लिए उनसे नहीं कहा। इसका क्या परिणाम हुआ वह मेरे कहने की बात नहीं है। जब कोश छप गया तब शुक्ल जी के द्वितीय पुत्र ने आकर मुझसे कहा कि दोनों पुस्तकें भाषा और साहित्य का इतिहास, एक ही जिल्द में छपें पर नाम अलग-अलग रहें। मैं नहीं कह सकता कि उसने वह अपने मन से कहा था या शुक्ल जी के आदेशानुसार। मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और यह निश्चय किया कि मैं स्वयं हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखूँगा।**

शुक्ल जी का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' संघर्षों में छपा है। यह बात सच है। संघर्ष की यह कथा चन्द्रशेखर शुक्ल ने भी लिखी है। ऐसा नहीं लगता कि शुक्ल जी और बाबू जी दोनों कभी आमने-सामने हुए हों और शुक्ल जी तो बाबूजी से वैसे भी कुछ नहीं कहते। शुक्ल जी के परिवार के सदस्यों ने इस प्रकाशन के समय विशेष रूप से संघर्ष किया है। चन्द्रशेखर शुक्ल लिखते हैं–

''1927 ई. में कोश कार्य समाप्त हो जाने पर उसकी प्रस्तावना का प्रश्न उठा। इतने बड़े और प्रामाणिक कोश की भूमिका में हिन्दी साहित्य का इतिहास दिया जाना जरूरी समझा गया। यह काम कोश के प्रधान सम्पादक का था। फिर भी उन्होंने शुक्ल जी को ही पकड़ा। शुक्ल जी जानते थे कि यदि प्रस्तावना में मेरा नाम अलग से न दिया गया तो वह प्रधान सम्पादक की ही समझी जाएगी। इसलिए उन्होंने प्रस्तावना लिखना इस शर्त पर स्वीकार किया कि उसमें मेरा नाम अलग से दिया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि शुक्ल जी का सारा परिवार इस शर्त पर अड़ न गया होता तो बाबू साहब के संकोच के सामने शुक्ल जी की दृढ़ता टिक न सकती और प्रस्तावना बिना नाम के ही छपी होती क्योंकि बाबू साहब की कामना यही थी। इसके लिए पहले उन्होंने बहुत समझाया कि कोशों के भीतर नाम देने की चाल अंग्रेजी कोशों में नहीं है। पर जब उन्हें वेब्सटर आदि नए-पुराने कोश दिखाकर, शुक्ल जी ने साफ कह दिया कि यदि अलग से उनका नाम न दिया जाएगा तो वे प्रस्तावना न लिखेंगे एवं इसके साथ ही यह भी कह दिया कि मैं प्रस्तावना कोश के प्रथम संस्करण के लिए ही दूँगा और उसके बाद उसे पुस्तकाकार स्वतन्त्र छपवाने का मेरा पूरा अधिकार सुरक्षित रहेगा तब लाचार होकर बाबू साहब को शुक्ल जी की शर्त माानी पड़ी। और तदनुसार प्रस्तावना लिखी जाने लगी। उन्हें इस काम में पूरे आठ महीने लगे। और कोश में प्रस्तावना देने की जल्दी मच गई। कोश इंडियन प्रेस की बनारस शाखा में छपता था। वहीं प्रस्तावना छपने का भी प्रबन्ध हुआ। छपाई प्रारम्भ होने के बाद बाबूटहलने जाते समय शुक्ल जी के यहाँ से प्रूफ और नई कॉपी ले जाया करते थे। यह क्रम तीन महीने तक

---

* आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, सं. गुलाबराय, विजयेन्द्र स्नातक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1962, पृ. 9

** संस्मरण और रेखाचित्र, सम्पादक : उर्मिला मोदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण 1987 ई. (रायकृष्णदास का संस्मरण) पृ. 41

* हिन्दी साहित्य का वीरगाथाकाल शीर्षक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग 9, अंक 2, वैशाख, संवत् 1985 अंक में बाबू श्यामसुन्दरदास और पं. रामचन्द्र शुक्ल के नाम से प्रकाशित हुआ है पृ. 17 से 47 तक। (1925 ई. की बात है। उस समय नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक गौरशंकर हीराचन्द ओझा थे।)

** मेरी आत्मकहानी, श्यामसुन्दर दास, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग, 1941 ई., प्रथम संस्करण, पृ. 176 तथा 177

जारी रहा। तब जाकर प्रस्तावना छप सकी। पहले प्रूफ बाबू साहब खुद देखा करते थे। लेकिन कुछ ही दिनों बाद शुक्ल जी को एक मित्र ने बताया कि बाबू साहब अन्तिम प्रूफ में शुक्ल जी का नाम हटाने की ठाने बैठे हैं। इसकी रोकथाम के लिए शुक्ल जी ने स्वयं प्रूफ देखना शुरू कर दिया। अन्तिम प्रूफ के दो दिन पहले हरिऔध जी (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') ने सूचना दी कि बाबू साहब कह रहे थे कि उन्होंने दवा सोच ली है। शुक्ल जी के प्रूफ पास कर देने पर वे प्रेस में जाकर उनका नाम निकलवा देंगे। छप जाने के बाद जो कुछ होगा देखा जाएगा। भारी चक्कर था। शुक्ल जी ने कहा–

'कोई दूसरा कहता तब तो यह मानने की बात नहीं थी। बाबू साहब ऐसी प्रकृति के मनुष्य नहीं हैं। उन्हें अपनी जबान का बड़ा ख्याल रहता है। बात मानकर फिर पीछे हटते आज तक मैंने उन्हें नहीं पाया। अतः उपाध्याय जी की बातों का सहसा विश्वास नहीं होता। लेकिन वे झूठ क्यों कहेंगे? आखिर उनसे यह सब झगड़ा बताया किसने? जो हो, हमें अपना इन्तजाम रखना चाहिए।–यह कहकर उन्होंने अपने छोटे भाई जगदीशचन्द्र को इन पंक्तियों के लेखक के साथ उक्त प्रेस में यह देखने के लिए तैनात किया कि अन्तिम पृष्ठ पर उनका नाम छपता है या नहीं। साथ ही यह हिदायत भी दी कि इस प्रकार 4-5 सौ पृष्ठ छप जाने पर उसकी एक कॉपी लेकर लौटना। इस तरह समझाकर वे हमें लेकर उक्त प्रेस में गए। मैनेजर और मशीन मैन से परिचय कराके वे नौ बजे रात लौट आए। इस आदेश के अनुसार 12 बजे रात हम लोग उक्त नमूना लेकर लौटे। दूसरे दिन यह सब सुनकर बाबू साहब ने पं. केशवप्रसाद मिश्र से कहा–''यह है प्रस्तावना के छप जाने का कच्चा चिट्ठा।''*

यह सब होने पर भी बाबूजी के प्रति शुक्ल जी के मन में सदैव आदर भाव रहा है। परिवार के सदस्य चाहे जो कुछ कहें शुक्ल जी बाबू साहब को अन्त तक मानते रहे हैं। बाबू साहब ने अपनी 'आत्मकहानी' में जो कुछ लिखा, उसे शुक्ल जी ने पढ़ा नहीं है। बाबूजी ने अपनी आत्मकहानी शुक्ल जी का निधन होने के उपरान्त प्रकाशित की। यों वह आत्मकहानी 25 अक्टूबर, 1940 को पूरी लिखी जा चुकी थी। चन्द्रशेखर शुक्ल लिखते हैं–

''अच्छा हुआ जो बाबू साहब ने अपनी जीवनी (मेरी आत्मकहानी) को 25-10-40 को ही समाप्त करके शुक्ल जी के निधन के बाद प्रकाशित किया अन्यथा अपने बारे में बाबू साहब के इन विचारों से उन्हें हार्दिक वेदना होती। बाबू साहब के बारे में उनका ख्याल इतना ऊँचा था।''*

और फिर देखिए कि यह इतिहास कितनी जल्दी में और दबावों के बीच लिखा जाता रहा है। स्वयं रामचन्द्र शुक्ल इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में लिखते हैं–

''कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी साहित्य का यह इतिहास 'हिन्दी शब्दसागर', की भूमिका के रूप में 'हिन्दी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् 1929 के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत-सी बातें बढ़ाई गई हैं विशेषतः आदि और अंत में। 'आदिकाल' के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं।–**

'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में जनवरी, 1929 ई. में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, छपा और उसी वर्ष कुछ महीनों बाद सभा से ही अलग से पुस्तकाकार रूप में उक्त 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' छपा है।

प्रथम संस्करण के वक्तव्य के अन्त में शुक्ल जी ने विद्वानों के ऋण को स्वीकार किया है। तदनुसार उन्हें धन्यवाद देते हुए लिखते हैं–

''मिश्रबन्धुओं के प्रकांड कविवृत्त संग्रह 'मिश्रबन्धु विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रन्थ के विवरण लिए हैं। अतः आधुनिक शिकश्टत के अनुसार उसके उत्साही और परिश्रमी संकलनकर्त्ताओं को धन्यवाद देना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। हिन्दी पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट भी मुझे समय-समय पर विशेषतः सन्देह के स्थल आने पर उलटनी पड़ी है। रायसाहब बाबू श्यामसुन्दरदास बी.ए. की 'हिन्दी कोविद रत्नमाला', श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' तथा श्री वियोगी हरि जी के 'ब्रजमाधुरी सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है। अतः उक्त तीनों महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिककाल' के प्रारम्भिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना पड़ा उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं. केदारनाथ पाठक ही काम आए पर न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिए धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे आजकल की एक बदमाशी समझते हैं।'*

प्रथम संस्करण के समय की यह स्थिति है। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का महत्त्व बतलाने की आवश्यकता नहीं। वह सर्वविदित है।

---

* रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रशेखर शुक्ल, पृ. 159-160-161

* रामचन्द्र शुक्ल...वही चन्द्रशेखर शुक्ल...पृ. 163

** हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी नौवाँ संस्करण, संवत् 2009, प्रथम संस्करण का वक्तव्य से, पृ. 7

* हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी नौवाँ संस्करण, संवत् 2009, प्रथम संस्करण का वक्तव्य से, पृ. 5

(चिन्तामणि चिन्तक : रामचन्द्र शुक्ल/ राजमल बोरा से साभार)

श्री श्यामसुन्दर दास की साहित्यिक पहेली

शब्दसागर की प्रस्तावना का रहस्य

अभ्युदय के पिछले एक अंक में श्री रामचन्द्र शुक्ल और श्री श्यामसुन्दर दास के दो लेखों में अक्षरशः समानता दिखलाते हुए, हमने यह सवाल उठाया था कि 'इन दोनों महारथियों के दो लेखों में इतनी समानता कहाँ से और कैसे आई?' हमने यह भी लिखा था कि हमारी यह निश्चित धारणा है कि श्यामसुन्दर दास अपनी किताबों के खुद लेखक हैं। ऐसी दशा में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता कि ***सन् 1923 में श्री रामचन्द्रजी ने कैसे अपनी प्रस्तावना लिखने में श्री श्यामसुन्दर दास के सन् 1924 में प्रकाशित गोस्वामी तुलसीदास पर निबन्ध से इतना बड़ा अंश अक्षरशः नकल कर दिया।*** *यह निबन्ध तो सन् 1924 में प्रकाशित हुआ था। तो फिर क्या बात हो सकती है कि यद्यपि यह प्रकाशित सन् 1924 में हुआ था परन्तु लिखा वह बहुत पहले गया था और श्री रामचन्द्र शुक्ल ने उसकी पाण्डुलिपि न सिर्फ पढ़ी बल्कि उसे अक्षरशः अपनी प्रस्तावना में नकल भी कर डाला। इस सम्बन्ध में हमारे एक विशेष संवाददाता ने श्री रामचन्द्र शुक्ल से भेंट की, जिसका विवरण हम नीचे छाप रहे हैं। इंटरव्यू को छापने के पहले शुक्लजी के पास हमने इस इंटरव्यू की एक नकल भेजी थी ताकि यदि उसमें कोई गलत बात कही गई हो तो वह उसे सुधार दें। पर शुक्ल जी ने हमारे पास उसका कोई प्रतिवाद न भेजा। ऐसी दशा में, जब तक श्री श्यामसुन्दर दास इस मामले में सही-सही बातों को प्रकट करने के लिए मैदान में न उतरें,* ***हमें विवश होकर यही मानना पड़ेगा कि चोरी बाबू साहब ने ही की है।–सं.*** *]*

जिस समय मैं शुक्लजी के यहाँ पहुँचा वह अन्दर थे। किन्तु यह जानकर कि कोई मिलने आया है, आप तुरन्त बाहर आ गए। शुक्लजी को इधर कुछ दिनों से दमे की शिकायत है, और आज तो थोड़ा ज्वर भी था। मुझे दुःख हुआ कि ऐसे कुअवसर पर मैं पहुँचा। किन्तु जब आ ही गया था और शुक्लजी भी निकल ही आए थे, तब मैंने यह उचित ही समझा कि उनसे प्रश्न कर ही लूँ। पहले मैंने उनसे यह स्पष्ट कह दिया कि मैं अभ्युदय की ओर से उनसे भेंट करने आया हूँ। (क्योंकि बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जिनको लोग निजी तौर पर कह देते हैं, पर जिन्हें खुलेआम नहीं कह सकते और मैं निजी तौर पर मुलाकात करके फिर उसे पत्र में छपवाने की जघन्य नीचता कर ही नहीं सकता।)

शुक्लजी ने पूछा–''क्या आज्ञा!''

मैंने कहा–''दो-तीन प्रश्न हैं।''

उन्होंने कहा–''कहिए!''

''रायबहादुर श्री श्यामसुन्दर दास ने 'भाषाविज्ञान' की भूमिका में यह लिखा है कि उनकी उस पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद परिवर्द्धित और परिशोधित होकर 'हिन्दी शब्दसागर' की प्रस्तावना के रूप में छपा है। किन्तु प्रस्तावना पर आपका नाम है। ऐसा क्यों?''

''बात यों है कि प्रस्तावना का इतिहास वाला अंश मेरा लिखा हुआ था,'' शुक्ल जी बोले–''बाबू साहेब की यह इच्छा थी कि वह प्रस्तावना पुस्तक रूप में छपे और उस पर हम दोनों का नाम रहे। मुझे यह स्वीकार न था। इसलिए मैंने अपने लिखे अंश पर हस्ताक्षर कर दिया। बाबू साहेब ने ऐसा क्यों नहीं किया, यह तो वही जान सकते हैं।''

''बाबू श्यामसुन्दरदास ने जो कुछ तुलसीदास पर लिखा है, उसमें ऐसे बहुत से अंश हैं जिन्हें हम आपके लेख में शब्दशः पढ़ चुके हैं। इसका क्या आप कोई कारण बता सकते हैं?'' मैंने पूछा।

''मैंने बाबू साहेब की वह पुस्तक आज तक नहीं पढ़ी।'' शुक्लजी ने उत्तर दिया, ''मैं यह बिलकुल नहीं जानता कि उन्होंने क्या लिखा है।''

''क्या आप भाषा विज्ञान के लेखक हैं?''

''कौन कहता है।''

''लोगों की यही धारणा है।''

शुक्लजी हँसकर चुप हो रहे। दमे के रोग को वह दबाना चाहते थे। मैंने भी देखा कि अब उन्हें कष्ट हो रहा है। इसलिए इस प्रश्न का उत्तर लिए बिना ही मैं चला आया। ऊपर की बातचीत के समय एक सज्जन और भी उपस्थित थे। यद्यपि मैंने उस समय नोट नहीं लिए फिर भी पूरी बातचीत जहाँ तक सम्भव है, ज्यों-की-त्यों लिख रहा हूँ।

शुक्लजी ने अपनी कैफियत दे दी है। क्या हम आशा करें कि सभा के सर्वस्व, रायबहादुर श्री श्यामसुन्दर दास भी मौन भंग करेंगे।

अभ्युदय –आपका संवाददाता

11 जून, 1934

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-8, सं. ओमप्रकाश सिंह से साभार)

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

हिन्दी शब्दसागर की प्रस्तावना 'साहित्य का इतिहास' इस नाम से स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी का पहला प्रामाणिक इतिहास है। इसके जोड़ का दूसरा ग्रन्थ प्रचुर सामग्रियों के इस युग में भी अब तक न दिखाई पड़ा। इस इतिहास में शुक्लजी के साहित्यिक व्यंग्य से रोचकता आ गई है। आलोचना करते समय शुक्ल जी किसी के व्यक्तित्व से आतंकित नहीं होते थे, भले ही वह बड़े से बड़े साहित्यसेवी हों। कुछ उदाहरण देखिए–

(क) 'ये दोनों नाटक उपाध्याय जी ने हाथ आजमाने के लिए लिखे थे। आगे उन्होंने इस ओर कोई प्रयत्न न किया।'

(ख) 'द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।'

(ग) 'शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें– भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्यालोचन भी आपने लिखीं या संकलन कीं।'

(घ) 'मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ निकाला जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि देव हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं यह दूसरी बात है।'

इस इतिहास में शुक्लजी ने काल-विभाजन और कवियों की विशेषताओं का वर्गीकरण करके एक नया मार्ग दिखाया, जो इसके पहले असूझ था। उन्होंने कवि की अंतर्वृत्ति को खोलकर उस पर पड़े हुए सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रभावों का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर ठोस सामग्री मिलेगी। आलोचकों में प्रचलित प्रमाद की ओर भी शुक्लजी ने इस इतिहास में ध्यान रखा है। वे लिखते हैं–

'कहीं-कहीं अंगेजी कवि के विषय में की हुई समीक्षा का कोई खण्ड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिन्दी कवि पर भिड़ा दिया जाता है। पद्य का भाव कुछ और है। आलोचक जी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं।'

शुक्लजी को हिन्दी-साहित्य के क्रमिक विकास का जितना गम्भीर और व्यापक ज्ञान था उतना ही भाषा पर अधिकार भी था। सच बात तो यह है कि वे हिन्दी के बड़े से बड़े भाषा-विज्ञानी को भी भाषा विज्ञान सिखा सकते थे। अपनी आलोचना-शक्ति का भी उन्होंने इस ग्रन्थ में अभीष्ट उपयोग किया। इन सबका फल यह उत्कृष्ट इतिहास है।

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रन्थावली-8, सं. ओमप्रकाश सिंह से साभार)

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय ने हिन्दी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिन्दी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिन्दीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, सम्पादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में मगांअंहिवि द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिन्दी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिन्दी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिन्दी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिन्दी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास

शिवपूजन सहाय

यह पुस्तक भी इंडियन प्रेस से ही निकली है। इसके लेखक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हैं। 700 पृष्ठों की यह सजिल्द पुस्तक 4।।) में मिलती है। चित्र एक भी नहीं है; पर इससे पुस्तक की आन्तरिक शोभा में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। शुक्लजी बड़े गम्भीर और विचारशील लेखक हैं। वे हिन्दी-साहित्य के सच्चे मर्मज्ञ हैं। वे काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के रत्नालंकार हैं। उनकी रचनाओं से हिन्दी विशेष गौरवान्वित हुई है। इस पुस्तक के रूप में उन्होंने हिन्दी को एक ऐसी चीज दी है, जो आगे की पीढ़ियों के लिए भी बड़े काम की होगी। उन्होंने अपने 'वक्तव्य' में इस पुस्तक की जन्मकथा इस तरह लिखी है–

''इधर जबसे विश्वविद्यालयों में हिन्दी की उच्चशिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखलाबद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। पांच या छः वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे, जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी-साहित्य के इतिहास.....का एक कच्चा ढांचा खड़ा किया गया था। 'हिन्दी-शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में 'भाषा और साहित्य का विकास' देना भी स्थिर किया गया। अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा।''

इससे यह स्पष्ट होता है कि, 'शब्द-सागर' की भूमिका ही, कुछ आवश्यक हेरफेर के साथ, पुस्तकाकार बन गयी है। लेखक ने स्वयं लिखा है–''आधुनिक काल के अन्त में वर्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के वर्णन को थोड़ा और पल्लवित करना पड़ा।'' फिर यह भी लिखा है कि, ''यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है। वर्तमान काल के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न और प्रभावशाली लेखकों और कवियों के नाम जल्दी में या भूल से छूट गए होंगे। वर्तमान लेखकों और कवियों के सम्बन्ध में कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते-डरते उल्लेख किया गया।''

यह बड़े विस्मय और विषाद का विषय है कि, साहित्य का इतिहास लिखने बैठकर आलोचनाओं के भय को हृदय में स्थान दिया जाए! क्या सच्चे समालोचक का यही धर्म है? निष्पक्ष बातों को कभी आंच नहीं लगती। निर्भीकता और स्पष्टवादिता सगी बहनें हैं। साहित्यिक विषयों पर दोटूक कहने में मुलाहजा करना या शंकित होना समालोचक के लिए बड़ा खतरनाक है। जब लेखक ने पहले ही यह लिखकर कि, ''अगले संस्करण में इस (आधुनिक) काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है''–महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है''–इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था'' काफी मोर्चेबन्दी कर ली है, तब तो डरने की कोई बात ही नहीं रह जाती है। खरी परख की कसौटी हाथ में लेने पर उसी दशा में भय हो सकता है, जबकि मन में कुछ संकोच हो, सत्साहस का अभाव हो। खैर, शायद इस तरह की पेशबन्दी एक रस्म भी है! इसलिए लेखक की विद्वत्ता की तरह उनकी नम्रता भी सराहनीय है। इस पुस्तक के अन्तवाले 215 पृष्ठों में (469 से 684 तक) आधुनिक काल का इतिहास दिया गया है। यह अंश बड़े अच्छे ढंग से लिखा गया है। जान पड़ता है कि, यह 'डरते-डरते' नहीं लिखा गया और सहज संकोच को भी धर-दबोचा गया। हिन्दी-साहित्य-महारथी पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में एक जगह लिखा गया है–

''छोटी-बड़ी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने (द्विवेदीजी ने) फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इनमें अधिकतर लेख 'बातों का संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के समय नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में आनेवाले दो ही चार लेख मिलते हैं। पर विचारों की वह गूढ़-गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती, जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नयी विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है।''

यहाँ पर मुझे भी यह कहने के लिए क्षमा मिलनी चाहिए कि, वास्तव में द्विवेदी जी दूसरों ही के समझने के लिए लिखते हैं; पर शुक्लजी केवल अपने ही समझने के लिए लिखा करते हैं! 'हिन्दी में रहस्यवाद' मेरी बात का साक्षी है। हाँ, एक बात और है। द्विवेदीजी सर्वसाधारण जनता के लिए ही लिखते हैं और शुक्लजी लिखते हैं एम. ए. के छात्रों के लिए। द्विवेदीजी अपढ़ों और गरीबों के लेखक हैं, शुक्लजी डिग्रीधारियों और अनन्त-पथगामियों के!

2

इस पुस्तक में सम्वत् 1900 से 1980 तक

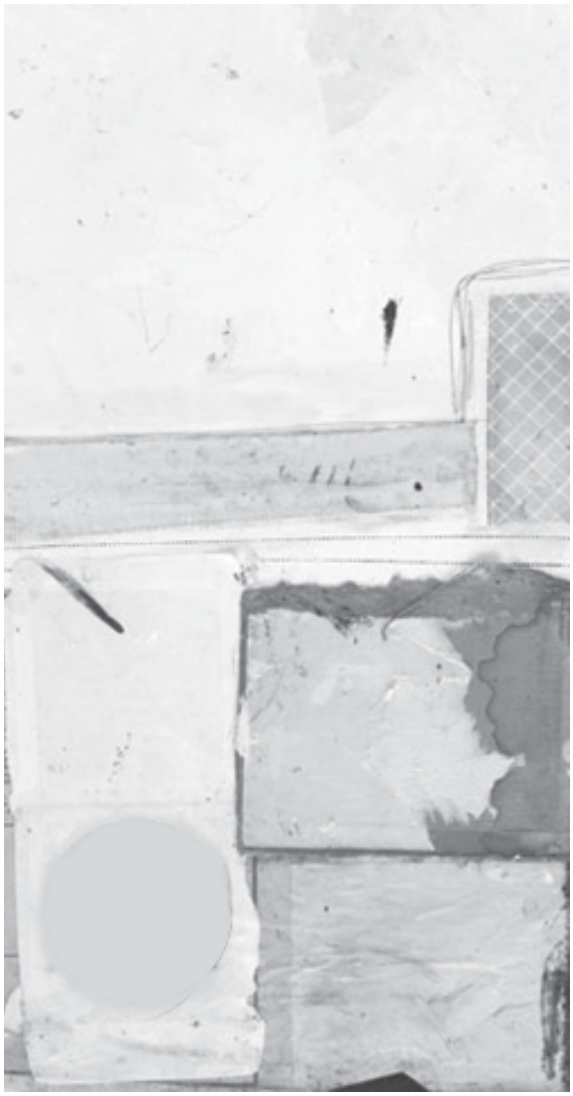

'आधुनिक काल' माना गया है। इस काल के चार प्रकरणों में गद्य और चार ही प्रकरणों में काव्य के विकास और प्रसार का इतिहास बड़ी खोज से लिखा गया है। ये आठों प्रकरण बहुत-सी जानकारियों से भरे हैं। गद्य और कविता के विकास पर मननशील लेखक ने बड़ी मार्मिकता से विचार किया है। प्रसिद्ध एवं लब्धप्रतिष्ठ गद्यकारों और कवियों की रचनाओं के उदाहरण दे-देकर गद्य और काव्य के विकास का इतिहास ऐसा क्रमबद्ध लिखा गया है कि, विचार-शृंखला कहीं भी टूटी नहीं है। लिखने का ढंग बड़ा ही मनोरंजक और मर्मस्पर्शी है। भाषा और साहित्य के इतिहास को इतना मनोरंजक और प्रभावशाली बनाकर सिद्धहस्त लेखक ने अपनी अध्ययनशीलता और चित्ताकर्षिणी शैली का अच्छा परिचय दिया है।

गद्य-साहित्य की वर्तमान गति की समीक्षा करते हुए लेखक ने (पृष्ठ 612 में) एक बात बड़े मार्के की लिखी है। वह इस प्रकार है–''दो-एक लेखक योरप के कुछ कला-सम्बन्धी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिन्दी वालों की आंखों में उसी प्रकार चकाचौंध उत्पन्न करना चाहते हैं, जिस प्रकार कुछ लोग यहाँ के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर! जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस, स्वेडन इत्यादि अनेक देशों के नये-पुराने कवियों, लेखकों और समीक्षकों के नाम गिनाकर वे एक प्रकार का आतंक उत्पन्न करना चाहते हैं। वे कहीं गेटे और कहीं टाल्स्टाय के उद्धरण देकर, अपने लेखों की तड़क-भड़क-भर बढ़ाते हैं। लेखों को यहां से वहाँ तक पढ़ जाइए, लेखकों के अपने किसी विचार का पता न लगेगा। ऐसे लेख यदि योरप के किसी स्थान से बैठकर लिखे जाते हैं, तो पत्र-सम्पादक लोग उन्हें अजायब-घर की चीज समझते हैं।''

लेखक के इस विचार पर पत्र-सम्पादकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। खासकर डाक्टर हेमचंद्र जोशी और प. इलाचन्द्र जोशी को तो इस विचार पर कुछ-न-कुछ अवश्य ही बोलना चाहिए। 'निराला' जी, 'पन्त' जी और उनके अन्य मित्र–जो प्रायः अपने लेखों में मिल्टन, टेनीसन, कीट्स, शेली, बर्नार्ड शॉ, रोमां रोलां आदि का उल्लेख किया करते हैं–इस पर अब तक क्यों चुप हैं, यही आश्चर्य है। ऊपर जो लेखक का मत उद्धृत किया गया है, उसकी ध्वनि स्पष्ट बतलाती है कि, ये लकीरें सोच-समझकर नहीं–बल्कि रोष में आकर लिखी गयी हैं। गेटे और टाल्स्टाय के उद्धरण देकर अपने लेखों की तड़क-भड़क बढ़ानेवाले लेखक भी हिन्दी में हैं, इसमें कोई शक नहीं; पर क्या सब-के-सब वैसे ही हैं? क्या प्रवासी हिन्दी-लेखकों के सभी लेख विचार-शून्य ही होते हैं? यों बे-धड़क बेलगाम कह डालना समालोचक का काम नहीं है, और इतिहास-लेखक को तो रोष-द्वेष को दूर ही रखकर कलम उठाना चाहिए। खेद है कि, शुक्लजी के समान सुयोग्य और जिम्मेदार लेखक भी इस दोष से न बच सका!

पृष्ठ 680 पर लेखक ने छायावाद या रहस्यवाद की कविताओं को लक्ष्य करके लिखा है कि, ''ऐसे खेलवाड़ों से काव्य की गम्भीरता जाती रहती है। जैसे 'चाह या वेदना का सोना' तो 'जागना' के अनुरोध से अच्छा लग सकता है, पर उसका 'करवटें बदलना, अंगड़ाइयाँ और जंभाइयाँ लेना' भद्देपन की ओर बढ़ना है।'' किन्तु जब ओठों पर हँसी नाच उठती है, आँखों में लज्जा मुस्कुराती है, हृदय में आनन्द लहराता है, तब भला वेदना के करवटें बदलने में कौन-सा भद्दापन है? उर्दू-शायरों की वेदना 'तड़पती है', तो छायावादी कवियों की वेदना 'करवटें भी न बदले'? भाषा किसी की मौरूसी जायदाद थोड़े है?

यह पुस्तक हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त समालोचनात्मक इतिहास कही जा सकती है। इसमें पूर्वकाल और मध्यकाल की तरह आधुनिक काल पर भी सन्तोषजनक रीति से विचार किया जाना चाहिए था; किन्तु जान पड़ता है कि, 'डरते-डरते' आखिर आधुनिक काल की आलोचना अधूरी रह ही गयी!

*(सुल्तानगंज, भागलपुर (बिहार) से प्रकाशित मासिक 'गंगा' के नवम्बर-दिसम्बर, 1930 में आचार्य शिवपूजन सहाय ने 'भट्टनायक' छद्मनाम से तीन पुस्तकों बाबू श्यामसुंदर दास द्वारा लिखित 'हिंदी भाषा और साहित्य', पं. रामचंद्र शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' और श्रीरामचंद्र वर्मा की पुस्तक 'अच्छी हिंदी' की समीक्षा लिखी थी। शुक्लजी की पुस्तक की समीक्षा क्रम से दूसरी थी। यह समीक्षा आचार्य शिवपूजन सहाय की पुस्तक 'हिन्दी भाषा और साहित्य' से साभार उद्धृत की जा रही है। –**संपादक**)*

टिप्पणी

'हिंदीकीगोबर-पट्टीमेंपुस्तक-संस्कृति?'

रमेश कुंतल मेघ

*(हमने डॉ. रमेश कुंतल मेघ से 'पुस्तकें और मैं' पर लिखने का आग्रह किया था। यह टिप्पणी उन्होंने उसी संदर्भ में हमें भेजी है। **संपादक**)*

किसी भी सामाजार्थिक संरचना में समाज, समूह, वर्ग या मनुष्य/व्यक्ति द्वारा शताब्दियों से संप्राप्त्य लोकधर्मी इतिहास, मर्यादा तथा परंपरा छीनकर मिटा दो, वह मात्र पशु और मशीन बन जाएगा। संग्रहण में चयन और चुनौती तो विकास और प्रगति की कसौटी रही हैं। वे स्वीकार्य हैं।

सुदीर्घ सामंतीय एवं औपनिवेशिक शोषण-उत्पीड़न-दमन से जीर्ण-शीर्ण हिन्दी की गोबर-पट्टी में ऊपर से गरीबी तथा सांप्रदायिकता-जातीयता के कोढ़ ने अस्मिता ही मिटा दी है। उत्तर भारत के सभी साम्राज्यों मौर्य, कुषाण, गुप्त, हर्ष, मुग़ल के सत्ताकेंद्र भी हिन्दी-क्षेत्र में रहे थे। इसी के चलते रामविलास शर्मा की नृविज्ञानी 'हिन्दी जातीयता' वाली चिंता पर पुनर्विचार होना चाहिए। क्योंकि 'पंजाबियत', 'काश्मीरियत', 'तेलुगु-बिट्टा', 'मराठी-मानुस' की अवधारणाएँ भी संघ में स्वायत्त की किंचित् अस्मिता की सामूहिक खोज भी सिद्ध हुई हैं।

आज हिन्दी-पट्टी में सर्वाधिक प्रचंड अंतर्विरोध, भयंकर गरीबी, अशिक्षा और अमानवीयता बेरोज़गारी और बेगानापन भी व्याप्त है। पूरे क्षेत्र का अमानवीय अपराधिकीकरण हो गया है। आबादी का व्यापक प्रव्रजन (एमीग्रेशन) लाचारी में लोगों को बंधुआ और बेसहारा झुंड बना रहा है। प्रवंचित जन लफंगों (लुम्पेन) की कतारों में शामिल हो रहे हैं। ऊपर से आम जनता चेहरा विहीन हो रही है। अतिशिक्षित तथा साधारणतः शिक्षित लोग कबीर और तुलसी, यशपाल और रेणु तक के नामों की अपेक्षा उनकी कृतियों को भूल-से रहे हैं।

ऐसे में कपिल सिब्बल और सैम पित्रोदा वाली 'ज्ञानवर्ती-समाज' (नॉलेज सोसायटी) की अवधारणा दूर की कौड़ी लगती है। चंड़ीगढ़, बंगलूर और गुड़गांव तो इस पट्टी में परीकथा-से लगेंगे। तदपि 'शिक्षा का अधिकार', 'रोज़गार का अधिकार', 'नारियों का कोटा' आदि उत्साहवर्धक कल्याणकारी पहल हैं। इससे ग्रामों, कस्बों, नगरों में भी स्वतंत्रता का बेहतर ज़िन्दगानी की चाहतों का प्रसार होगा।

दिल्ली-धुरी से अक्सर पुस्तक-संस्कृति एवं सेमिनार-संस्कृति की चर्चाएँ छन-छनकर फैलती रहती हैं। इन सबके केंद्र में पहले ग्रहीता (पाठक), फिर विक्रेता-क्रेता (खरीददार) ही होते हैं। इतने विशाल हिन्दी-क्षेत्र की विराट् जनता ज्यादातर अनपढ़ है, अथवा नवसाक्षर। उसका ज्ञान-विज्ञान, समाजविज्ञान, कला और तकनॉलॉजी का साहित्य (हिन्दी में) प्रायः अनुपलब्ध हैं। हिंदी के शिक्षित पाठकों की इन अनुशासनों से यथेष्ट सार्थक तथा प्रभावक मुठभेड़ नहीं हो पा रही है। मीडिया ने 'हिंग्लिश' की खिचड़ी-भाषा में विज्ञापन, ब्रांडों, फैशन और फिल्म, अपराध और रोमांच में ही बेहद नियंत्रित जनरुचि को विकसित किया है। इससे हिन्दी-धुरी पर समाज (सीमित अर्थों में गल्प तथा काव्य) एवं इतिहास (अमूमन कुंजीमार्का परीक्षोपयोगी) ही बाज़ार में चालू हैं। लेकिन हिन्दी-संस्कृति का उन्नयन और उत्थान करने वाली दिशाएँ अभी भी बहुत क्षीण तथा धुंधली हैं। इसका श्रीगणेश तो पुस्तक-संस्कृति के द्वारा होना चाहिए। फिर 'विचारों के इतिहास' का समायोजन चिर-प्रतीक्षित है। ये दोनों शर्तें हैं। इनका अभी तक इंतजार है।

इसके बगैर हम अप्रतिभाशाली उत्पादों को सिद्धांतरहित उत्पादकों द्वारा अत्यंत दिग्भ्रमित गृहीताओं के बीच परोसते रहेंगे। यहाँ भाषा की गांठ भी है। क्या एक ही प्रकार का मनोरंजन-खोजी, भावुक, साहित्य-रसिक ही हमारा 'पाठकीय मॉडल' बना रहेगा?

मंथन करें कि मेरा पाठक कौन-सा है? फुटपाथी, श्रमजीवी, या बुद्धिजीवी या मध्यवर्गीय प्रचेता? ऐसे में क्या हम जैसे समाजवैज्ञानिक संस्कृतिवेत्ताओं को भी अपनी भाषा से शिकायत है? क्या वह हमें भी गड़बड़झाला या दुरूह, या क्लिष्ट लगती है? एक क्षेत्र की भाषा का दूसरे क्षेत्र में अभिग्रहण की कठिन भाषिक सीमाएँ भी होती हैं। इसे हम शिरोधार्य क्यों न करें!

नये ज्ञानानुशासनों की पुस्तक-संस्कृति वाली भाषा तर्क के सुर-ताल में अभ्यासी तथा विभिन्न अनुशासनों के पारिभाषिकों के सधे हुए साजों से बहु-बोध-छंद वाली भाषा ही हो सकती है। उसमें आवेगी झाग की गुंजाइश नहीं हो सकेगी। इसलिए उसमें लेक्सिकॉन की अद्‌भुत अपरिचयात्मक जिज्ञासा तथा संयमबद्ध अंतर्वाक्यीय छंद में एकाग्रत्य की बेहद दरकार होती है। हमें केवल साहित्य-भाषा के रेशमी-रोएँ को तोड़कर उसे सांस्कृतिक समाज वैज्ञानिक तानों-बानों में सुग्रंथित करके चलना है। विशिष्ट लेखन का विशिष्ट पाठक-वृंद भी हस्तक्षेप करे, तभी पुस्तक-संस्कृति की धारावाहिक अनुमति होगी।

फ्लैट नं. 3 (भू-तल), स्वास्तिक विहार-3, मनसादेवी कांप्लेक्स पंचकूला-134109 (हरियाणा)

साहित्य कोलाहल

प्रज्ञाचक्षु

18 अगस्त, 2009 को दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में महात्मा गाँधी की पुस्तकों 'हिन्द स्वराज' और 'सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा' का लोकार्पण हिन्दी अकादमी की अध्यक्ष दिल्ली की मुख्यमन्त्री श्रीमती शीला दीक्षित और वरिष्ठ पत्रकार प्रभाष जोशी ने किया। यह लोकार्पण समारोह इसलिए हास्यास्पद हो गया कि शीला दीक्षित ने अपने वक्तव्य में इन

दोनों पुस्तकों के लेखक के रूप में बार-बार अकादमी के उपाध्यक्ष अशोक चक्रधर के नाम का उल्लेख किया। इस अवसर पर 'हिन्द स्वराज' के बारे में अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में प्रभाष जोशी ने कहा कि आज की दुनिया बनाने वाली तीन किताबों में से एक पुस्तक गाँधी जी की 'हिन्द स्वराज' भी है। 100 वर्ष पहले लिखी गई इस किताब को आज भी पश्चिमी समाज उनके बारे में की गई सबसे रचनात्मक आलोचना मानता है।

❑

के.के.बिरला फाउंडेशन द्वारा 4 सितम्बर को दिल्ली के एक समारोह में असमिया साहित्यकार लक्ष्मी नन्दन बोरा को उनके उपन्यास 'कायाकल्प' के लिए सरस्वती सम्मान और

हिन्दी की वरिष्ठ कथाकार मन्नू भण्डारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' के लिए व्यास सम्मान लोकसभा अध्यक्ष मीरा कुमार द्वारा प्रदान किए गए। उल्लेखनीय है कि बोरा सरस्वती सम्मान पाने वाले पहले असमिया साहित्यकार हैं। जबकि पहली बार आत्मकथा के लिए हिंदी में किसी को व्यास सम्मान दिया गया है। सरस्वती सम्मान के रूप में बोरा को पाँच लाख रुपये का चैक, प्रशस्तिपत्र और प्रतीक चिह्न प्रदान किया गया। मन्नू भण्डारी को व्यास सम्मान के लिए ढाई लाख रुपये का चैक, प्रशस्ति पत्र और प्रतीक चिह्न प्रदान किया गया। इन दोनों पुरस्कारों की विश्वसनीयता इसलिए संदिग्ध है कि इसके निर्णायक मंडल के सदस्यों की भूमिका खुद संदिग्ध है।

❑

4 अगस्त को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 125वीं जयंती के अवसर पर साहित्य अकादेमी नई दिल्ली द्वारा आयोजित समारोह में आलोचक शुक्ल जी की रचनात्मकता के विभिन्न पक्षों पर गम्भीर विचार-विमर्श हुआ। विषय प्रवर्तन करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने अपने को 'शुक्ल जी के ही खेत (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) में उगा हुआ छोटा-सा पौधा' बताते हुए कहा–'हालांकि मूर्ति भंजन के दौर में कोई मूर्ति सुरक्षित नहीं है। अब तो लोग शुक्लजी पर भी हाथ उठा रहे हैं। पर हकीकत है कि 20वीं सदी में भारत में शुक्लजी जैसा कोई समालोचक-साहित्यकार नहीं हुआ।' डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि के बहाने इस बात पर जोर दिया कि शुक्लजी के गुणगान और निन्दागान के बजाए यह देखा जाना बेहतर होगा कि उनके कौन-कौन से काम अधूरे पड़े हैं, उन्हें विकसित नए-सन्दर्भों और तथ्यों के आलोक में कृति का रूप देने की कोशिश की जाए। इस समारोह के अन्य वक्ता थे रमेश कुन्तल मेघ, कृष्णदत्त पालीवाल और विश्वनाथ त्रिपाठी। लेकिन अकादेमी की गोष्ठी में ठीक से शुक्लजी उभर नहीं सके क्योंकि उनको ठीक से समझने वाले आलोचक दिल्ली से दूर थे।

❑

28 जुलाई को दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में हिन्दी के प्रतिष्ठित समालोचक प्रो. नामवर सिंह के असली तिरासीवें जन्मदिन पर राजकमल प्रकाशन की ओर से एक समारोह में उन्हें सुमन केशरी द्वारा सम्पादित 'जेएनयू में नामवर सिंह' पुस्तक भेंट की गई। वैसे तो हिन्दी में डॉ. नामवर सिंह पर स्वतन्त्र रूप से लगभग आधा दर्जन पुस्तकें (यहाँ उन पर शोध प्रबन्धों की बात नहीं की जा रही है) प्रकाशित हुई हैं, जिनमें सम्यक रूप से उनके आलोचक और व्यक्ति का विश्लेषण किया गया है। लेकिन यह पहला अवसर था जबकि राजधानी के एक प्रगतिशील विश्वविद्यालय से जोड़कर उनके अवदान को देखा ही नहीं गया था, उनके श्रद्धालु भक्तों के द्वारा विह्वलता और करुणा के साथ उनको याद भी किया गया था।

❑

31 जुलाई को प्रेमचन्द जयंती के अवसर पर हंस की वार्षिक गोष्ठी, जिसका आयोजन एबाने-गालिब में हुआ, का विषय था, 'युवा रचनाशीलता और नैतिक मूल्य'। इस अवसर पर अशोक वाजपेयी ने कहा कि युवा रचनाशीलता को दूसरी रचनाशीलता से काटकर नहीं देखा जा सकता। दरअसल हिन्दी साहित्य में सारे बड़े परिवर्तन युवाओं ने ही किए हैं लेकिन युवाओं में अधीरता के साथ तेजी का आतंक बढ़ा है। हम आज प्रतिरोध का रूपक नहीं बना पा रहे हैं। अंग्रेजी की प्रसिद्ध लेखिका अरुंधति राय ने कहा कि नैतिकता एक खोखली अवधारणा है। इतिहास के बड़े-बड़े नरसंहार नैतिकता के नाम पर होते रहे हैं। अपने आरंभिक वक्तव्य में पत्रिका संपादक राजेन्द्र यादव ने कोई नई बात नहीं कही।

❑

संसद भवन स्थित बालयोगी सभागार में 6 अक्टूबर की शाम में प्रसिद्ध कवि कुंवर नारायण को राष्ट्रपति प्रतिभा पाटिल ने 41वें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित करते हुए कहा कि समृद्ध राष्ट्र के निर्माण में साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। साहित्य मनुष्य को शोक में सांत्वना देता है, निराशा के क्षणों में आशावान बनाता है और इससे भी बढ़कर मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करता है। कुंवर नारायण ने अपने वक्तव्य में कहा कि समाज की अनेक मूल्यवान चेष्टाएँ होती हैं जिन्हें यत्न से बचाना पड़ता है। मानवीयता से जुड़े विश्व के दो प्रमुख आन्दोलनों का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि 15वीं सदी में यूरोप का रिनेसां (पुनर्जागरण) और लगभग उसी समय में अपने शिखर पर पहुँचा हुआ भक्ति आन्दोलन दोनों ही, तत्वतः साहित्य और कलाओं के सन्दर्भ में, आधुनिकता से भी हमें जोड़ते हैं। कविता को अपने मन की दुनिया बताते हुए उन्होंने कहा कि उसे बहुत बड़ी रखना चाहता हूँ, जिसमें सबके दुख-सुख के लिए पर्याप्त जगह हो। ज्ञानपीठ के निर्देशक रवीन्द्र कालिया ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

❑

आज हिन्दी में पुरस्कार जिस तरह दिए जाते हैं और निर्लज्जतापूर्वक लिए जाते हैं, उस रहस्य पर से अब धीरे-धीरे पर्दा उठ रहा है। 10 सितम्बर को भारत भूषण अग्रवाल सम्मान समारोह में पिछले पाँच वर्षों में पुरस्कृत कवियों को सम्मानित किया गया। साथ ही तीस वर्षों से स्थापित इस पुरस्कार से सम्मानित कवियों पर केन्द्रित पुस्तक 'उर्वर प्रदेश-3' का लोकार्पण हुआ लेकिन इस पुस्तक की विष्णु खरे द्वारा लिखित लम्बी विध्वंसकारी भूमिका के कारण जैसा बावेला मचा, अभूतपूर्व था। अब तक गालिब के शेर का मिसरा दोहराकर कि देखने हम भी गए थे पर तमाशा न हुआ' लेकिन दुख कि बात यह है इस बार तमाशा तो खूब हुआ लेकिन देखने के लिए हम नहीं थे। भीतर पुस्तक का लोकर्पण हो रहा था और बाहर पर्चा बँट रहा था। तीस वर्ष से निरन्तर जारी यह पुरस्कार सहसा अविश्वसनीय और संदिग्ध बन गया है। यदि कवियों ने पुरस्कार लौटाए तो हैरानी की बात नहीं। जिस तरह निर्णायक मण्डल का पुनर्गठन किया गया है, उससे इस पुरस्कार की बिगड़ी छवि भविष्य में सुधरने की कम ही सम्भावना है। वैसे विष्णु खरे की टिप्पणी मुझे ठीक-ठाक लगी। लेकिन देर से उन्होंने टिप्पणी की, यह अच्छी नहीं लगी।

❑

पिछले दिनों दिल्ली के एक समारोह में सामयिक प्रकाशन द्वारा प्रकाशित कन्हैया लाल नन्दन के आत्म संस्मरणों की पुस्तक 'कहना जरूरी था' का लोकार्पण वरिष्ठ साहित्यकार रामदरश मिश्र और महीप सिंह ने किया। इस अवसर पर डॉ. महीप सिंह ने कहा कि रचनाकार-पत्रकार अपनी जीवन यात्रा में कई ऐसे पड़ावों से होकर गुजरता है जहाँ वह बहुत कुछ कहना चाहता है। रवीन्द्र कालिया जैसे कुछ लोग खरी-खोटी बातों के लिए इस 'काले रजिस्टर' को बिना किसी परवाह के सबके सामने खोल देते हैं तो कन्हैया लाल नन्दन जैसे लोग साहस व ईमानदारी के बावजूद उस कशमकश से बाहर निकलने का इन्तजार करते हैं जो उन्हें अपने आदर्श (धर्मवीर भारती) के खिलाफ लिखने-बोलने को खड़ा करता है।

❑

पूरी दुनिया के पुरातात्विकों के लिए जब से हड़प्पा सभ्यता की खोज हुई है, तब से लेकर सिन्धु घाटी की चित्र लिपि अब तक रहस्यमय रही है। लेकिन भारत और अमेरिका के शोधकर्ताओं के लिए अब वह दिन ज्यादा दूर नहीं जब वे इस लिपि को पढ़ सकेंगे। भारत और अमेरिका के संयुक्त प्रयास मुम्बई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, चेन्नई इंस्टीट्यूट ऑफ मैथमेटिकल साइंस, और यूनिवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन द्वारा एक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है–प्रोसिडिंग्स ऑफ नेशनल एकेडमी ऑफ साइंस, जिसमें कहा गया है कि इस चित्र लिपि से विशिष्ट (पैटर्न)...बनता है उससे इसमें अन्तर्निहित व्याकरणीय संरचना की खोज की जा सकती है। वाशिंगटन यूनिवर्सिटी के कम्प्यूटर साइंस में एसोसिएट प्रोफेसर रामेश्वर राव ने कहा कि गणितीय प्रणाली से इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि प्रतीक का जो आयोजन है उससे वह अजनबी लिपि, जो एक विशिष्ट भाषा है, की खोज की जा सकती है।

दिनेश कुमार शुक्ल को बधाई

पिछले दिनों इलाहाबाद में आयोजित एक समारोह में वर्ष 2008 का केदार सम्मान

समकालीन हिन्दी कविता के महत्त्वपूर्ण कवि दिनेश कुमार शुक्ल को उनके कविता संकलन 'ललमनियाँ की दुनिया' (अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद) के लिए दिया गया। पुरस्कार की प्रशस्ति में कहा गया कि 'ललमुनियाँ की दुनिया' में आज के समय के साथ जीवन मूल्य और मानवीय सन्दर्भ बोध को बचाने का उल्लेखनीय प्रयास है।

❑

पिछले दिनों इंडो एशिया न्यूज सर्विस ने वाशिंगटन के हवाले से यह खबर दी है कि एक अध्ययन के अनुसार फ्रांज काफ्का की पुस्तक पढ़ने से या डेविड लिंच द्वारा निर्देशित फिल्म देखने से आपकी स्मार्टनेस बढ़ सकती है। काफ्का की पुस्तक 'द कंट्री डॉक्टर' के अतियथार्थवाद के खुलापन या लिंच के 'ब्लू वेलवेट' आपकी मानसिक संरचना को बढ़ा सकती है। विचार यह है कि यदि आप ऐसे किसी शब्दार्थ के खतरे के सामने होते हैं जिसका मौलिक रूप से कुछ अर्थ नहीं होता, तब आपका मस्तिष्क आपके भीतर के वातावरण में किसी और तरह की संरचना के प्रति उत्तरदायी होता है।

प्रो. सुरेश ऋतुपर्ण का षष्टिपूर्ति समारोह

प्रवासी भारतीय समाज की ओर से पिछले दिनों नई दिल्ली के त्रिवेणी सभागार में हिन्दी के वरिष्ठ कवि और जापान की तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज में कार्यरत सुरेश ऋतुपर्ण का षष्टिपूर्ति समारोह मनाया गया। इस अवसर पर उनके कविता संग्रह 'ये मेरे कामकाजी शब्द' का लोकार्पण निर्मला जैन ने किया और समारोह की अध्यक्षता रामदरश मिश्र ने की।

❑

पिछले दिनों वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के स्थापना दिवस पर आयोजित समारोह

में डॉ. अनिता विजय ठक्कर की पुस्तक 'हिन्दी प्रचार संस्थाएँ : स्वरूप और इतिहास' का लोकार्पण म.गा.अ.हि.वि.वि. के कुलपति विभूति नारायण राय ने किया। उल्लेखनीय है कि 4 जुलाई 1936 को गाँधी जी ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना की थी।

पाखण्ड व बर्बरता साम्राज्यवाद की विशेषता : मैनेजर पाण्डेय

किसानों, मजदूरों और निम्न मध्यवर्ग की बदहाल स्थिति के लिए समाज का पूँजीवादी चेहरा जिम्मेदार है। पूँजीवाद, साम्राज्यवाद हमेशा से ही किसान विरोधी रहा है। अखण्ड पाखण्ड व जन्मजात बर्बरता साम्राज्यवादकी स्थायी विशेषता है। ये बातें हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'आज के समय में देश की बात' विषय पर म.गा.अ.हि.वि.वि. के इलाहाबाद स्थित क्षेत्रीय केन्द्र के सत्यप्रकाश मिश्र सभागार में आयोजित विशेष व्याख्यान में कही।

❑

सन् 1866 में कवि चार्ल्स स्विनबर्न के कविता संग्रह 'पोएम्स एण्ड बैलेड्स' को उनके प्रकाशक ने मुकद्मा चलाने की धमकी के कारण बाजार से हटा लिया। कहा गया कि कुछ काव्य-पंक्तियाँ, जिनमें शारीरिक मुद्राओं, हरकतों का ब्यौरा था, आपत्तिजनक पाई गईं। स्विनबर्न ने कविताओं से वे अंश हटाने की बजाए दूसरा प्रकाशक तलाश किया।

जन्मदिन की शुभकामनाएँ

1. नंदकिशोर नवल, 2 सितम्बर, 1937
2. कुबेरदत्त, 5 सितम्बर, 1949
3. कान्तिकुमार जैन, 9 सितम्बर, 1932
4. खगेन्द्र ठाकुर, 9 सितम्बर, 1937
5. सारा राय, 15 सितम्बर, 1956
6. वीरभारत तलवार, 20 सितम्बर, 1947
7. कामतानाथ, 22 सितम्बर, 1955
8. मैनेजर पाण्डेय, 23 सितम्बर, 1941
9. कुंवर नारायण, 19 सितम्बर, 1927
10. अनिल कुमार सिंह, 25 सितम्बर, 1968
11. भगवत रावत, 13 सितम्बर, 1938
12. बद्रीनारायण, 5 अक्टूबर, 1965
13. स्वप्निल श्रीवास्तव, 5 अक्टूबर, 1954
14. विनोद भारद्वाज, 8 अक्टूबर, 1948
15. हरिनारायण व्यास, 14 अक्टूबर, 1923
16. निर्मला जैन, 31 अक्टूबर, 1931
17. प्रणय कृष्ण, 1 अक्टूबर, 1966
18. प्रेमपाल शर्मा, 15 अक्टूबर, 1956

पुण्य स्मरण

1. आ. रामचन्द्र शुक्ल, 4 अक्टू., 1884 (जन्म)
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 9 सितं., 1850 (जन्म)
3. प्रतापनारायण मिश्र, 27 सितं., 1856 (जन्म)
4. बालमुकुन्द गुप्त, 18 सितं. 1907 (मृत्यु)
5. भगवतीचरण वर्मा, 5 अक्टू., 1981 (मृत्यु)
6. रामविलास शर्मा, 10 अक्टू., 1912 (जन्म)
7. नंददुलारे वाजपेयी, 4 सितं., 1906 (जन्म)
8. दिनकर, 23 सितं., 1908 (जन्म)
9. विजयदेव नारायण साही, 7 अक्टूबर, 1938 (जन्म)
10. शलभ श्रीराम सिंह, 5 अक्टू., 1938 (जन्म)
11. राही मासूम रजा, 1 सितं., 1927 (जन्म)
12. फादर कामिल बुल्के, सितं., 1909 (जन्म)

कविता की ताकत कठिन संघर्षों से आती है...

कुबेर दत्त

आ लगभग 18 वर्ष पहले की बात है। दिल्ली की एक संस्था 'लिखावट' ने (जिसका संचालन कवि मिथिलेश श्रीवास्तव करते हैं) त्रिवेणी कला संगम के चेम्बर ऑडिटोरियम में कवि सुदीप बनर्जी का कविता-पाठ आयोजित किया था। श्रोताओं में मैं भी था और दूरदर्शन के लिए रिकॉर्डिंग भी कर रहा था। करीब 45 मिनट के काव्य-पाठ में (तब तक लिखी उनकी कई प्रकाशित कविताएँ भी थीं, कुछ अप्रकाशित भी।) अपनी डायरी में जिन कुछ कविताओं की कुछ-कुछ पंक्तियाँ मैं नोट कर रहा था उनमें एक कविता 'लौट आना चाहिए' भी थी जिसकी कुछ आरम्भिक पंक्तियाँ हैं–

किसी को लौट आना चाहिए
जो पता नहीं कहाँ चला गया

उसकी ग ैरमौजूदगी से
रिक्त नहीं है कोई जगह
जगह ही नहीं
सबके सोच-विचार
उनकी रोजमर्राएँ भर गई हैं–
उन तमाम चीजों से
जो उसकी छाया से बेख ाबर
क ायम मुक ाम है हर सतह पर

सुदीप भाई की कविताएँ सुनकर मुझे गहरा परितोष मिला था। मैं इधर की आधुनिक हिन्दी कविताएँ पढ़कर बहुत कम आर्द्र होता हूँ लेकिन सुदीप की वे कविताएँ सुनकर मैं अभिभूत हो गया था। मैंने पाया–मेरी आँखें गीली हैं। अपनी वर्क डायरी में मैंने कुछ पंक्तियाँ लिखीं–''सुदीप भाई आपकी कविताएँ सुनकर ऐसा लगा जैसे सारंगी अपनी ही किसी धुन पर अपने ही शब्द गा रही है। आपको मेरी हार्दिक बधाई।'' इन पंक्तियों को एक पुर्जे पर लिखकर मैंने अपने असिस्टेंट के हाथों सुदीप बनर्जी को भिजवाया। उसे उन्होंने बिना पढ़े जेब में रख लिया। मुझे थोड़ा झटका-सा ज रूर लगा कि पढ़ा क्यों नहीं! फिर सोचा कि शायद काव्य-पाठ में रमने के कारण उन्होंने तत्काल नहीं पढ़ा।

इसके बाद बरसों उनसे सामाना नहीं हुआ। गोष्ठियों/सेमिनारों में भी वे प्रायः दीखते नहीं थे। एकाध बार उन्हें देखा भी तो वे दूर, भीड़ में थे। बात न हो सकी।

जब इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के खुले प्रांगण में कुंवर नारायण का जन्मदिन हिन्दी के लेखकों ने मनाया तो वहाँ उनसे मुलाक ात हुई। मैंने उनसे उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा (वे कैंसर से पीड़ित थे और इलाज में थे। सुना था कि वे ऑपरेशन के बाद ठीक हो गए हैं)। उन्होंने मुस्कुरा कर कहा–''बिल्कुल ठीक हूँ।'' फिर चश्मा उतारते हुए बोले–''कुबेर भाई, आपने जो चिट मुझे त्रिवेणी में काव्य-पाठ के दौरान भिजवाई थी, वह मैंने घर जाकर इत्मीनान से पढ़ी और आपकी प्रतिक्रिया की भाषा से मेरा चेहरा दमक उठा। आपने तो 'कविता' में ही अपनी राय दी थी। वह काग ज अभी भी मेरे पास सुरक्षित है।'' सुनकर मैं ख ुश हुआ और मैंने कृतज्ञता में उनकी हथेलियाँ दबाईं। कुछ देर हम शान्त बैठे रहे। फिर वे उठे–यह कहते हुए कि 'अभी आता हूँ'। वे कुंवर नारायण जी के पास गए। सम्भवतः जन्मदिन की बधाई देने। वहीं कुछ और मित्रों से वे बातचीत में मगन हो गए। मुझे किसी कारणवश घर जल्दी लौटना था, सो उठ लिया। वाक्य 'अभी आता हूँ।' मुझमें उस दिन तरह-तरह से गूँजता रहा और जब वे न रहे तो लगा जैसे कि वही वाक्य फिर सामने आदमक द होकर खड़ा हो गया। और जब यह लिख रहा हूँ तो मुझे फिर याद हो आई थी उनकी वही कविता–'लौट आना चाहिए'।

सुदीप बनर्जी जिस तरह अपनी कविता में साफग ो थे, जीवन, व्यवहार और बातचीत में भी। वे मानते थे कि इस 'समय' में कविता और अन्य कलाओं की जगह सिकुड़ी नहीं है, हाँ कला-परिदृश्य पर कुछ दूसरी चीज ें हावी हो गई हैं। प्रसार-माध्यमों का विस्तार हुआ है उसके अनुपात में साहित्य और कला के अभियान आगे नहीं बढ़े। हालांकि अच्छा लिखा जा रहा है, रचा जा रहा है। बल्कि अच्छी समझ रखने वाले प्रसारकों-निर्देशकों की अदम्य कोशिशों के कारण पिछले कई दशकों से प्रसारण माध्यमों ने (भी) गम्भीर साहित्य-कला कर्म को उचित स्थान दिलाया है। और यह भी कि, इसके अलावा–जो, जहाँ कहीं भी, लिख-पढ़ रहा है, गा-गुनगुना रहा है, तस्वीर बना रहा है, थियेटर कर रहा है, नर्तन कर रहा है, सोच-विचार कर रहा है, देख-सुन-गुन रहा है तो वह भी 'प्रतिरोध' का ही हिस्सा है।

सुदीप बनर्जी, जो एक अधिकारी थे, बड़े अधिकारी थे, सिद्धान्तों पर टिके हुए अधिकारी थे, उन्होंने पद पर रहते हुए भी सामाजिक प्रतिबद्धता से जुड़े काम किए और अपने साथी लेखकों-चित्रकारों-नाटककारों-पत्रकारों की मदद ऐसे कार्यों के लिए ली। स्वेच्छा से भी अनेक शिक्षक, विद्यार्थी, वकील, आमजन उनके कार्यों से जुड़े। गीतकार नईम ने भी गाँव-गाँव जाकर 'साक्षरता अभियान' में सुदीप बनर्जी की कार्य-योजनाओं को आगे बढ़ाया–लोकप्रिय बनाया।

कवि लीलाधर मंडलोई ने कहा है–''...वे हमारे समय के एक आदमक द इन्सान

और कवि हैं।'' यह बात कई मायनों में सही है। सुदीप बनर्जी ऐसे व्यक्ति और कवि थे जो जीवनभर अपनी 'नागरिकता' के लिए संघर्ष करते रहे। और ऐसे व्यक्ति भी थे जिनका शायद ही कोई विरोध रहा हो, उनके 'सुदीपपन' को सभी प्यार करते थे।

वंचितों का दिल और वंचितों की आवाज माइकल जैक्सन

आज दुनिया कई तरह के संकटों से जूझ रही है। इसके बरक स पूंजी की विश्वव्यापी ताक त है। इसी के साथ जुड़े कला-व्यवसाय और गोरखधन्धे और इन्द्रजाल हैं। ऐसे ही एक इन्द्रजाल से असम्बद्ध और नामालूम तरीके से उदित हुआ था एक बहुत सधा हुआ अश्वेत पॉप गायक माइकल जेक्सन! 25 जून, 2009 को अमेरिका के लॉस एंजिल्स में उसका निधन हो गया। कारण बताया गया हृदयाघात। हालांकि कई कोणों से इसकी जांच अभी भी चल रही है कि उसकी मौत कहीं हत्या तो नहीं थी। अरबपति माइकल जब मरा तो उसकी सम्पत्ति अकूत थी लेकिन कहा जाता है कि उस पर 500 मिलियन डॉलर का क ज र था।

लोगों को आज भी भ्रम है कि माइकल जैक्सन ने अश्वेतों से बदला लेने के कारण अपने पूरे शरीर की प्लास्टिक सर्जरी करा ली थी। यह सरासर झूठ है। 30 की उम्र तक आते-आते असल में वह श्वित्र कुष्ट (आयुर्वेद संस्कृत नाम) यानी श्वेत कुष्ठ (आसान संस्कृत) अर्थात् सफेद दाग (हिन्दी) यानी ल्यूकोडर्मा किंवा वैटिलिगो का शिकार हो गया। बढ़त इतनी ज यादा थी कि चेहरे पर चकत्ते आने लगे जिन्हें उसने मेकअप से छुपाना शुरू किया। वह जब मंच पर गाता-नाचता था तो उसे होश में रहना नहीं आता था। ऐसे ही एक शो में जब डांस ग्रुप मशालें लेकर नाच रहा था तो आग का कोई कण उसके बालों पर गिरा और बालों में आग लग गई। माइकल जेक्सन अपने नृत्य में मग्न था, उसे क्या पता था कि उसरे सिर के बहुत बाल जल चुके हैं जब चमड़ी भी जलने लगी तब उसे पता चला तो वह तनिक न घबराया। जलती-बुझती रोशिनयों के दरम्यान वह नेपथ्य में गया और एक स्काफ र सिर पर बाँधकर फिर लौट आया। लोगों को पता ही न चला कि वास्तव में हो क्या गया है। उसके जलते बालों को देखकर लोगों ने सोचा कि वह भी कोई टेक्नीक है और शो का हिस्सा है।...बाद में उसे सिर की भी सर्जरी करवानी पड़ी और विग का सहारा लेना पड़ा। लोगों ने समझा यह माइकल की अदा है, उसके बदलते फैशन का हिस्सा। उन्हें क्या पता था कि माइकल कितने कष्ट एक साथ झेल रहा था। जब आँखें विकृत हो गईं तो उन पर बड़ा-सा काला चश्मा लगाना शुरू किया। चेहरे की चमड़ी गल गई तो चेहरे पर भी विग के काले लम्बे बाल लहराने लगे।

इन सबके बावजूद 51-52 वर्षीय गायक-नर्तक माइकल जैक्सन का अवतरण हमेशा धरती पर उतरे किसी देवदूत की तरह होता था। तीन दशक से अधिक तक माइकल का जादू एक इन्द्रजाल, एक सनसनी, एक आवारगी-पागलपन बना रहा। उसने अपने जीवन में अनेक रिकॉर्ड बनाए। उसने 13 बार ग्रामी अवॉर्ड जीते। उसके प्रिय ब्रेक डांस पर अमरीकी सरकार को पाबन्दी लगानी पड़ी क्योंकि इस नृत्य-पद्धति का ग लत ढंग से अभ्यास करने के कारण अनेक लोग लकवाग्रस्त हो गए थे। फिर भी लोग जैक्सन के दीवाने थे। ज यादातर युवा पीढ़ी के लोग, मगर चुलबुले, सदाबहार और प्रसन्नचित्त लाखों बूढ़े-बूढ़ियाँ भी। माइकल एक आदत था, एक आचार-विचार, एक जीवन-शैली, एक अनिवार्य-सा नशा। उसके पहले अलबम 'ऑफ द वॉल' के 2 करोड़ 70 लाख रिकॉर्ड बिके और सन् 1982 में 4.1 करोड़ प्रतियों की बिक्री ने तो रिकॉर्ड ही तोड़ दिए।

माइकल जैक्सन का विरोध करने वाले लोगों का कहना है वह कलाकार नहीं था, वह भौंडा नचनिया था, कूद-फांद करनेवाला चिंपांजी, एक सनकी आदमक द खिलौना, एक बीमारी, संगीत के नाम पर छय, एक पागल नट, भावविहीन हाहाकारी...विकृत छद्मजाल, एक सीमाहीन छलावा...एक हिंसक आवारगी... मगर, पूरे विश्व में उसे चाहनेवाले कहते हैं कि वह मुक्ति का वरदान था...वह प्रकृति में लगातार चलने वाले नृत्य-संगीत का जाया अकाल शिशु था...वह श्वेत-अश्वेत की दीवारें पाटने वाला सामजिक था...वह घृणा के विरुद्ध प्रेम का मसीहा था..वह रीतिवाद से ग्रस्त संगीत की मुक्ति का देवता था...वह पूरी दुनिया को संदेश देने वाला महान संगीत-गुरु था–उसकी आवाज में जादू था, वह रोगग्रस्त कायाओं में जीवन का संचार करने वाला औषध था...वह विकृतियों को जला लेने वाला चमत्कार था..वह अमीर-ग रीब के भेद को पाट देने वाला मसीहा था। वह इतना लोकप्रिय था कि ग रीब से ग रीब संगीत प्रेमी उसका संगीत ख़रीद सकता था।

जरा सोचिए, 1996 में माइकल जैक्सन ने जब अपना कार्यक्रम पेश किया था तो उसके पूर्व तीन बड़े रूसी मालवाहक जहाजों में माइकल जैक्सन की प्रस्तुतियों के उपकरण मुंबई पहुंचे थे। और भीड़ जुटी थी उसका कंसर्ट देखने के लिए। केवल मुंबई ही नहीं, भारतीय ही नहीं, विश्व के अनेक देशों के लोग वहाँ जुटे थे।

आलोचना या विरोध करने वाले यदि अज्ञान से भरे हों तो क्या किया जाए? माइकल जैक्सन को 'मुद्राएँ गढ़ने वाला नचनिया चिंपाजी' कहने वालों को जानना चाहिए कि उसे इतना लोकप्रिय किन तत्त्वों ने बनाया। हमें जानना चाहिए कि जिस तरह 'महान पिकासो' ने पूरी दुनिया की चित्रकला- मूर्तिकला-शैलियों का घूम-घूम कर गहन अध्ययन किया था और इसीलिए उनके सृजन में 'विश्व-दर्शन होते है इसी तरह महान् कवि-गायक-नर्तक-कलाकार माइकल जैक्सन ने भी दुनिया भर के लोक और शास्त्रीय रागों का न सिर्फ अध्ययन किया था बल्कि सबके कुछ-कुछ अंश अपने नृत्य में शामिल किए थे। भारत की भी अनेक

लोकनृत्य शैलियों के साथ-साथ उसने ओडिसी और भरतनाट्यम नृत्य शैलियों को भी अपने नृत्य में समाहित किया था। इसलिए भी वह केवल अमरीकी समाज में ही लोकप्रिय नहीं था, पूरी दुनिया में लोकप्रिय था। अफ्रीका में भी, यूरोप में भी, लातिन अमरीका में भी, भारत में भी, चीन में भी। जो जानना नहीं चाहते पहले उन्हीं को बताऊँ (क्योंकि जानने वाले तो जानते हैं) कि उसके गाये हुए ऐसे अनेक गीत हैं जो रंगभेद के ख़िलाफ हैं, नस्लभेद के ख़िलाफ हैं ग रेबराबरी के ख़िलाफ हैं, वृद्धों, महिलाओं, बच्चों पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ हैं, हर तरह के शोषण के खिलाफ हैं, इंसानियत के पक्ष में हैं, सामुदायिता के पक्ष में हैं, कुपोषण के शिकार बच्चों के पक्ष में हैं, शान्ति के पक्ष में और युद्धों के विरुद्ध हैं। परमाणु होड़ के विरुद्ध हैं। सामाजिक न्याय के पक्ष में हैं, दुनिया भर के मज दूरों और कामगारों के पक्ष में हैं। वृद्धों, युवाओं और बच्चों के लिए तो माइकल जैक्सन ने बेशुमार शो 'फ्री' किए थे। अनेक सामाजिक संगठनों के लिए वह जीवनभर भारी मात्रा में पैसा देता रहा। उसके गाए गीतों पर वंचित समाज जार-जार रोता था और उसे दुआएँ देता था। उसने जीवनभर कोई अश्लील गीत नहीं गाया, चाहे वह मुक्त-प्रम का गीत हो या घोर रोमानी हो। माइकल जैक्सन की नृत्य शैली की बारीकियाँ पिंजरे में कै द दिमाग नहीं समझ सक्ते।

माइकल जैक्सन जीनियस था, वाग्गेयकार था और साथ में नर्तक भी। भरतमुनि ने जितने गुण एक वाग्गेयकार के गिनाए हैं, उसमें कुछ अधिक ही थे।

उसके हज ारों गीतों में से यहाँ मैं उन केवल कुछ अलबम के नाम दे रहा हूँ जिनमें पीड़ित मानवता के पक्ष में और अतिचारी व्यवस्थाओं के विरोध में गाए गए गीत हैं। ज्ञानियों से निवेदन है कि वे इन्हें सुनें, अनुवाद करें, सच को जानें और अपनी बुद्धि और रुचियों के, सौन्दर्यशास्त्र के बन्द कपाट खोलें–

1. OFF THE WALL
2. BAD
3. MAN IN THE MIRROR
4. HEAL THE WORLD
5. BLACK OR WHITE
6. KEEP THE FAITH
7. THEY DON'T CARE ABOUT US
8. EARTH SONG
9. YOU ARE NOT ALONE
10. SMILE
11. THE LOST CHILDREN
12. WHATEVER HAPPENS
13. CRY
14. WE ARE THE WORLD
15. THE WORLD
16. WE HAVE HAD ENOUGH
17. THERE MUST BE MORE
18. THE LIFE THAN THIS

अपने पाठक मित्रों के लिए मैं वाग्गेयकार माइकल जैक्सन द्वारा रचित एक गीत का अपना अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ–

धरती का गीत

कहाँ गया हमारा सूर्य, और मौसम
कहाँ बिला गई बरखा हमारी
और प्रसन्नताएँ सपने?
उन्हें तो होना था हमारे लिए
वे हमारे थे...
कहाँ हैं वे कालखण्ड...वह ज मीन...वे खेत
जो हमारे ही तो थे?
क्या हम हो गए इतने जड़-प्रस्तर
कि हमें नहीं दीखते नदियों के रक्तिम किनारे
और समुद्रों का लाल ज्वार?
क्या वह हमारा ही रक्त नहीं है? आह!..
अरे ओ बूढ़े! तुम रोते हो अपने पुत्र की हत्या पर?
धरती के अगणित लाल सूली चढ़ा दिए गए
युद्धों ने जला दी पृथ्वी की कोख
महसूस करो इसे, आह! आह!!
सोचें हम सब जो हैं जीवित अभी किसी तरह
सुनें ध्यान से आहत पृथ्वी के शोकगीत
और आसमानों की द्रवित धड़कन...

देखो...पूरा ब्रह्मांड बीमार है, जर्जर है धरा
स्वर्ग टूट-टूट गिरते हैं...सांस लेना दूभर..
प्रकृति का कंठ अवरुद्ध है, कहाँ है प्राणवायु?
एक दूजे को एक दूजे से विलग कर रहा कौन...?
जबकि ध्वस्त हैं राजशाहियाँ...
फिर भी उनके प्रेत अब भी नाचतें हैं...
एक गझिन अन्धकार में हम खोजते एक दूजे को,
अपने प्रिय पशुओं को, प्रिय वनस्पतियों को,
फूलों और रंगों और जंगलों को, अपने लोगों को
और अपनी आत्माओं को...

उफ! ये बिलबिलाते...इन्सानों के बच्चे
जिनके कण्ठों में धँसी बारूद...
क्या मृत्यु उपत्कत्काएँ फिर फिर? चारों त क ?
अरे ओ घिघ्घी बंधे लोगो
फिर से याद करो अपने अब्राहम लिंकन को
आहत धरती कहती है यह, फिर...फिर..
गाती है अनवरत...शोकगीत!

हाल में ख ाबर आई है कि माइकल जैक्सन कवि ही नहीं था, एक गद्यकार भी था। वह डायरी भी लिखता था और संगीत-नृत्य-थियेटर-फि ल्म आदि पर टिप्पणियाँ भी। अपने गीतों की स्वरलिपियाँ तो लिखता ही था। उसने एक उपन्यास भी लिखा जो उसके अपने जीवन पर केन्द्रित है। इसके कई ड्राफ ट उसने तैयार किए थे। यह उपन्यास एक तरह से उसकी आत्मकथा जैसा ही है।

कई जाने-माने संगीताचार्यों ने माना है कि माइकल जैक्सन जैसा अद्भुत कलाकार सदियों में पैदा होता है। संगीत और सभी कलाएँ अन्ततः दुनिया की दीवारें तोड़ती हैं, यह सर्वमान्य तथ्य है। माइकल जैक्सन ने ठीक यही किया। जैक्सन के परिवार में ऐसे कई हैं जिनमें उस जैसी ही प्रतिभा है। उनमें एक उनकी बहन जेनेट जैक्सन भी है जो बहुत सुन्दर स्त्री है और अप्रतिम पॉप गायिका। माइकल जैक्सन कभी-कभी पैदा होते हैं। हज ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पर रोती है तो चमन में माइकल जैक्सन जैसा दीदावर पैदा होता है।

159, आकाश दर्शन अपार्टमेन्ट्स, मयूर विहार, फेज -1, दिल्ली-110091 फोनः 09868240906

खंडित जीवन का कोलाज

प्रभात रंजन

स्पेनिश भाषा के कद्दावर लेखक मारियो वर्गास ल्योसा ने अपनी पुस्तक 'लेटर्स टु ए यंग नॉवेलिस्ट' में लिखा है कि सभी भाषाओं में दो तरह के लेखक होते हैं–एक वे जो अपने समय में प्रचलित भाषा और शैली के मानकों के अनुसार लिखते हैं, दूसरी तरह के लेखक वे होते हैं जो भाषा और शैली के प्रचलित मानकों को तोड़कर कुछ एकदम नया रच देते हैं। अंग्रेजी उपन्यासकार जेम्स मैक्सवेल कोएट्जी (जे. एम. कोएट्जी) इस परिभाषा के अनुसार दूसरी कोटि के लेखक कहे जा सकते हैं। उनके नवीनतम उपन्यास 'समरटाईम' के संदर्भ में इस कथन को देखा जा सकता है। नोबेल पुरस्कार प्राप्त एक गल्पकार की जीवनी के रूप में लिखे जा रहे इस उपन्यास में यह सवाल महत्वपूर्ण ढंग से उभरकर सामने आता है कि आखिर तथ्य और गल्प का क्या रिश्ता होता है? किस प्रकार लेखक की कला तथ्य को गल्प-कथा में रूपांतरित कर देती है? लेखक ने एकदम नए शिल्प में कथा कहने का प्रयास किया है।

जे.एम. कोएट्जी अंग्रेजी के उत्तर-आधुनिक लेखकों में अग्रगण्य कहे जा सकते हैं। प्रचार और प्रसिद्धि के इस दौर में परिदृश्य से ओझल रहनेवाले इस लेखक को दो बार प्रतिष्ठित बुकर पुरस्कार मिल चुका है और 'समरटाईम' के लिए 2009 में उनको तीसरी बार इस पुरस्कार के लिए नामांकित किया गया। किसी अन्य लेखक को यह पुरस्कार दो बार नहीं मिला है। यही नहीं 2003 में उनको साहित्य का नोबेल पुरस्कार भी मिल चुका है। लेकिन पुरस्कारों ने न उनके लेखन की भूख को कम किया है न ही उनके प्रयोगों की धार को कुंद किया है। अपने उपन्यासों के कथ्य ही नहीं शिल्प को लेकर वे कितने सजग रहते हैं समरटाईम इसका अच्छा उदाहरण है।

वास्तव में, समरटाईम उनके उस वृहत् त्रयी की आखिरी कड़ी है जिसे उन्होंने स्थानीय जीवन के दृश्य कहकर याद किया है। इस कड़ी की पहली पुस्तक है 1997 में प्रकाशित 'बॉयहुड', जिसमें जॉन नामक चरित्र के जीवन के आरंभिक वर्षों से जुड़े दृश्य हैं जब वह केपटाउन में रहता था। 2002 में प्रकाशित इस शृंखला की दूसरी कड़ी 'यूथ' में जॉन नामक वह चरित्र जवान हो जाता है और केपटाउन से लंदन आ जाता है तथा वहां आईबीएम नामक कंपनी में प्रोग्रामर के बतौर काम करने लगता है और लेखक बनने के सपने देखने लगता है। इन दोनों पुस्तकों में एक लेखक के सौंदर्यात्मक और बौद्धिक विकास के आरंभिक चरण को दिखाया गया है। 'समरटाईम' इस शृंखला की सबसे महत्वाकांक्षी पुस्तक कही जा सकती है। रचना के स्तर पर भी और शिल्प के स्तर पर भी। 'बॉयहुड' तथा 'यूथ' में लेखक ने इस विचार को प्रश्नित किया है कि आखिर लेखक द्वारा लिखे गए अपने संस्मरणों की क्या सार्थकता होती है, जबकि समरटाईम में लेखक ने बहुत महत्वपूर्ण ढंग से आत्मकथात्मक लेखन की संभावनाओं एवं परिभाषाओं को परखने का प्रयास किया है, इसलिए एक तरह से इस पुस्तक में लिखा सब कुछ सत्य कहा जा सकता है और कहा जा सकता है कि एक स्तर पर कुछ भी सत्य नहीं क्योंकि पुस्तक का स्वरूप गल्पात्मक है।

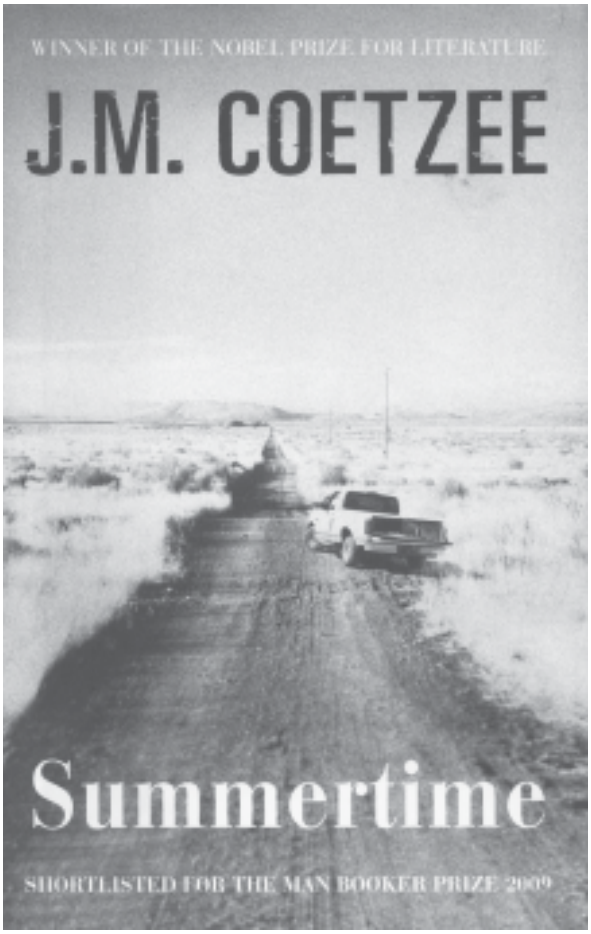

उपन्यास में विंसेंट नामक एक अंग्रेज दक्षिण अफ्रीका के उस महान लेखक जॉन कोएट्जी की जीवनी लिख रहा है जिनका हाल में ही निधन हो गया है तथा जिनसे वह कभी नहीं मिला था। उपन्यास में वह लेखक जॉन

कोएट्जी के 1972-75 के काल के जीवन को लेकर अनेक स्त्रोतों से शोध के आधार पर सामग्री इकट्ठा कर रहा है। यह लेखक के जीवन का वह काल है जब वह अमेरिका से लौटकर केपटाउन में अपने बूढ़े पिता के साथ रह रहा था तथा एक अध्यापक एवं लेखक के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत था। इस दौरान उसका एक उपन्यास डस्कलैंड्स प्रकाशित हो चुका है। लेखक जॉन के जीवन के इस काल को पुनर्रचित करने के क्रम में विन्सेंट अनेक स्त्रोतों से सामग्री लेता है। उपन्यास के आरंभ और अंत में लेखक की डायरियों के अंश दिए गए हैं तथा उपन्यास की मूल कथा के रूप में पाँच लोगों की भेंटवार्ताएँ दी गई हैं जिनका उस दौर में लेखक जॉन से किसी न किसी तरह का संबंध था।

प्रश्न उठता है कि उपन्यास-लेखक जे.एम. कोएट्जी एवं कथानायक जॉन कोएट्जी में किसी प्रकार की समानता दिखाई देती है? काफी हद तक दोनों के जीवन में समानता दिखाई देती है। दोनों की पृष्ठभूमि दक्षिण अफ्रीका की है, दोनों इंगलैंड और अमेरिका में काफी समय बिताकर अपने देश लौटे, दोनों ने डस्कलैंड्स और डिस्ग्रेस जैसे उपन्यास लिखे एवं बॉयहुड और यूथ नामक गल्पात्मक संस्मरण लिखे, दोनों को नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुए। लेकिन दोनों के जीवन में गहरा अंतर यह है कि उपन्यास का कथानायक मर चुका है जबकि लेखक जे. एम. कोएट्जी जीवित हैं। बहरहाल, इस प्रकार की स्थूलताओं के आधार पर न इस उपन्यास को पढ़ा जाना चाहिए, न ही इसका यह उद्देश्य है। उपन्यास एक असाधारण मनुष्य के साधारण जीवन के बारे में है। जिसकी कथा उन पांच व्यक्तियों की बातचीत से उभरकर आती है जिनसे जॉन कोएट्जी नामक कथानायक के जीवनी लेखन के शोध के दौरान शोधकर्ता विंसेंट ने बात की है और जिनके साथ उस दौरान कोएट्जी के अंतरंग संबंध थे।

उपन्यास में जॉन कोएट्जी के जीवन को लेकर पहली बातचीत जूलिया नामक महिला से है, जो पेशे से मनोविश्लेषक है तथा जवानी के दिनों उसका कोएट्जी के साथ विवाहेतर संबंध था। दूसरी बातचीत

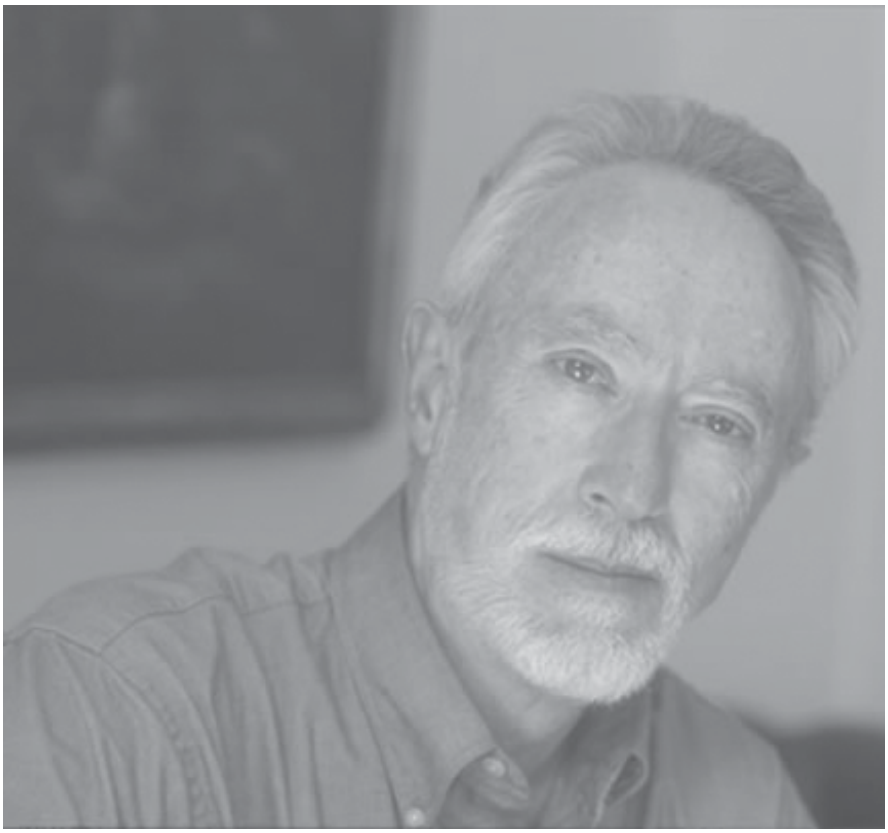

मारगॉट नामक महिला से है, जो दूर के रिश्ते में कोएट्जी की बहन है तथा किशोर-जीवन में जिसके साथ कोएट्जी की अंतरंगता थी। तीसरी बातचीत एड्रियाना नामक एक नर्तकी से है, जो ब्राजील की रहनेवाली है तथा जब वह केपटाउन में रहती थी तो कोएट्जी उसकी बेटी को पढ़ाता था, लेकिन उसका आकर्षण मां की तरफ था। चौथी बातचीत मार्टिन नामक व्यक्ति के साथ है जो 1972-75 के दौरान केपटाउन में जॉन के साथ वि ववियालय में पढ़ाता था। पांचवां इंटरव्यू सोफी नामक महिला के साथ है जो उसी विश्वविद्यालय में फ्रेंच पढ़ाती थी जहां जॉन कोएट्जी अंग्रेजी पढ़ाता था। दोनों ने उस दौरान मिलकर अफ्रीकी साहित्य का पाठ्यक्रम भी पढ़ाया था तथा इस दौरान दोनों के बीच संबंध भी विकसित हुए। इन पांचों में एक सामान्य बात यह भी है कि इन सबसे कथा-नायक की मुलाकात गर्मियों के दिनों में हुई थी। शायद इसीलिए उपन्यास का नाम लेखक ने समरटाईम रखा है।

इन्हीं पांच लोगों की बातचीत एवं जॉन की अपनी डायरियों के आधार पर विंसेंट ने लेखक के जीवन के उन वर्षों का खाका खड़ा करने की कोशिश की है जब कोएट्जी की लेखक के रूप में कोई खास पहचान नहीं बन पाई थी। मार्टिन से बातचीत के दौरान जीवनीकार विंसेंट कहता है कि जीवनी में जीवनीकार को कथा एवं उस व्यक्ति के बारे में लोगों की राय के बीच संतुलन बनाकर रखना चाहिए। वह कहता है कि आज ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो यह बताने के लिए तैयार हैं कि वे कोएट्जी के बारे में क्या सोचते हैं–लेकिन किसी की जीवन-कथा को सामने लाने के लिए कुछ इससे अधिक की आवश्यकता होती है। वह उसकी जीवनी लिखने के लिए इतने लोगों से बातचीत क्यों कर रहा है, जब मार्टिन उससे पूछता है तो वह जवाब में कहता है कि उसका उद्देश्य कोएटजी के बारे में किसी प्रकार के अंतिम निर्णय पर पहुंचना नहीं है। वह तो केवल इतना कर रहा है कि उसके जीवन के एक खास दौर की कहानी प्रस्तुत कर रहा है, और कोई कहानी एक कहानी नहीं हो सकती, अनेक दृष्टिकोणों से अनेक कहानियां होती हैं जो मिलकर एक कहानी बनाती हैं। उपन्यास में इस प्रकार का विमर्श साथ-साथ चलता रहता है।

उपन्यास एक प्रकार से उस नायकत्व

के अंत की कथा भी कहता प्रतीत होता है जो आधुनिक उपन्यासों की प्रमुख विशेषता रही है–नायक की संघर्ष-कथा के रूप में उपन्यास। दिलचस्प बात यह है कि जिस लेखक के जीवन की खंड-कथा कहने के उपक्रम के रूप में उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है उसका चरित्र ही उपन्यास में सबसे कमजोर दिखाई देता है। एड्रियाना जिससे वह डांस सीखने जाता था, उसे याद करती हुई कहती है कि उसका शरीर लकड़ी के उस पुतले की तरह था जिसे रस्सी से बांधकर झुलाया जाता है, जबकि उसका वास्तविक आत्म कहीं और उससे अलग बैठा हो, जिसे आप नहीं देख सकते, जिस तरह पुतले की रस्सी खींचनेवाले को आप नहीं देख सकते। वह इस बात को नहीं समझ पाती है कि इतना अमानवीय प्रतीत होनेवाला व्यक्ति किस प्रकार महान शख्सियत हो सकता है...और जो व्यक्ति प्रेम से इतना अनभिज्ञ लगता हो वह एक महान लेखक किस तरह हो सकता है। जूलिया उसे एक ऐसे प्रेमी के रूप में याद करती है जो इतने निर्वैयक्तिक ढंग से संभोग करता था मानो वह स्त्री से नहीं अपने दिमाग में स्त्री की किसी छवि के साथ रतिक्रिया कर रहा हो।

दिलचस्प है कि स्वयं जीवनीकार विंसेंट भी उस महान लेखन के लिखे पर पर उतना भरोसा नहीं करता दिखाई देता जिनकी वह जीवनी लिख रहा है। उपन्यास में सबसे अंत में विंसेंट सोफी से बातचीत करता है। वह बातचीत के दौरान उससे पूछती है कि उसकी डायरियां होंगी? चिट्ठियां होंगी? उसके नोटबुक होंगे? आखिर इंटरव्यू पर ही आप इतना जोर क्यों दे रहे हैं? जवाब में विंसेंट कहता है कि मैंने इसके बारे में सोचा था। लेकिन उनको सच तो नहीं माना जा सकता न। इसलिए नहीं कि वे कोई झूठे थे, लेकिन वे गल्पकार थे। हो सकता है अपने पत्रों, अपनी डायरियों में वे स्वयं अपना कोई चरित्र ही गढ़ रहे हों। वह एक ऐसा नायक साबित होता है जो किसी के लिए विश्वसनीय नहीं था, जिससे उसके जीवन के उस दौर के किसी अंतरंग को कोई उम्मीद नहीं थी।

किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु के बाद अनेक लोगों से बातचीत के आधार पर उसके जीवन के रहस्यावरण की तकनीक आर्सन वेल्स की फिल्म सिटिजन केन की तरह प्रतीत होती हो, लेकिन वास्तव में आज के दौर में मनुष्य के क्षरण की कथा कहती भी लगती है, पूंजी के सामने उसका रूप कितना बौना हो गया है इसके अनेक संकेत उपन्यास में आते हैं। उपन्यास के आरंभ में जॉन की डायरी में उसके अपने एक मित्र से बीस साल बाद मिलने का प्रसंग आता है। इन बीस सालों में उसका स्कूल की पढ़ाई में वह फिसड्डी दोस्त मार्केटिंग जगत का एक सफल व्यक्ति बन चुका है और वह जिसने अच्छी तरह अंकगणित और लैटिन की पढ़ाई की,

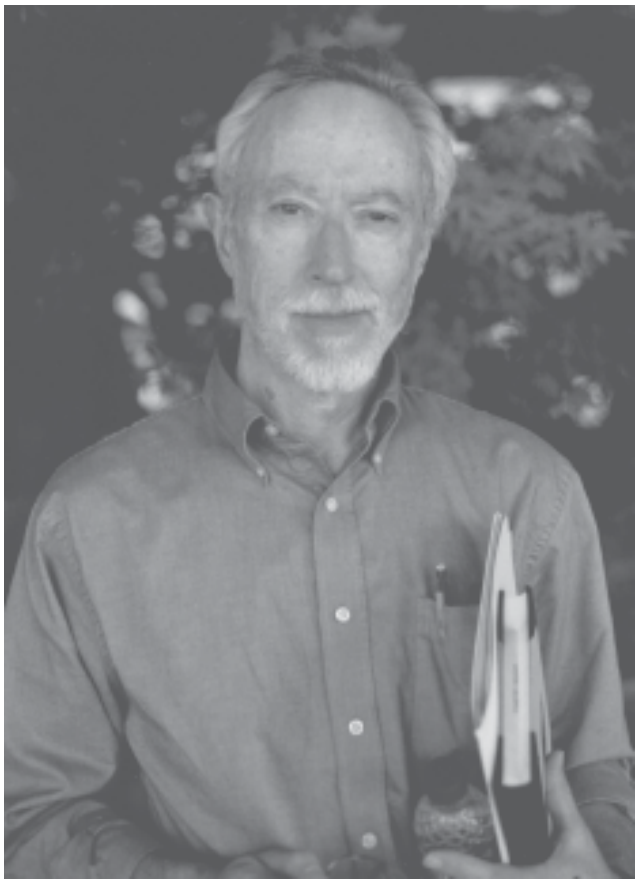

एक संघर्षरत बुद्धिजीवी। वह टिप्पणी दर्ज करता है कि भौतिक सफलता का रास्ता लैटिन और अंकगणित की पढ़ाई से होकर नहीं गुजरता। आज के दौर में समाज में बुद्धिजीवी की भूमिका कितनी कम होती जा रही है उस पर सटीक टिप्पणी की तरह इसे पढ़ा जा सकता है।

अगर इसे आत्मकथात्मक उपन्यास के रूप में पढ़ा जाए तो यह एक ऐसा आत्मकथात्मक उपन्यास कहा जा सकता है जिसमें आत्म ही सबसे अधिक अविश्वसनीय बनकर उभरता है। उपन्यास इस तकनीक प्रधान-दौर में व्यक्ति के गुम होते जाने की कथा भी कहती है। यह अपने आपमें कथा है और अकथा भी। इसमें एक ऐसी कथा कहने का उपक्रम है जिसका खाका अंत तक स्पष्ट नहीं हो पाता। जे. एम. कोएट्जी प्रयोगधर्मी उपन्यासकार हैं। उनके पिछले उपन्यास एलिजाबेथ कोस्तैलो की कथा पशुधन रक्षण को लेकर दिए गए तीन व्याख्यानों के रूप में संयोजित की गई थी। समरटाईम में कथा के भीतर उसकी व्याप्ति, उसके रूपों को लेकर विमर्श भी चलता रहता है।

समरटाईम विधाओं की अंतर्पाठीयता की बेहतरीन मिसाल कही जा सकती है। इसे उपन्यास कहा गया है, उपन्यास के भीतर जीवनी लिखने की तैयारी चल रही है, इसके अनेक प्रसंगों के आधार पर इसे आत्मकथा भी कहा जा सकता है, इसमें डायरियों के अंश हैं, कोएट्जी के अनेक उपन्यासों को लेकर टिप्पणियां हैं, उसके एकाकीपन को लेकर टिप्पणियां हैं, लेखक की सामाजिकता को लेकर टिप्पणियां हैं। कथा के केंद्र में जीवन का एक खंड है और उसके इर्द-गिर्द विधाओं की अंतर्पाठीयता का यह पाठ कोलाज की तरह प्रतीत होता है। इसे बुकर पुरस्कार भले न मिल पाया हो लेकिन अपने प्रयोगों के कारण इसे याद रखा जाना चाहिए।

समरटाईम/ जे.एम कोएट्जी/ रैंडम हाउस, लंदन/ मूल्य : 700 रुपये

93, एम्स अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096

बंद कमरे में यौनेच्छा का विस्फोट

अनन्त विजय

हिंदी में अनुवाद की स्थिति अच्छी नहीं है। विदेशी साहित्य को छोड़ दें तो अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे श्रेष्ठ साहित्य भी हिन्दी में अपेक्षाकृत कम ही उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में लिखे जा रहे रचनात्मक लेखन को लेकर भी हिन्दी के प्रकाशकों में खास उत्साह नहीं है। हाल के दिनों में पेंगुइन प्रकाशन ने कुछ अच्छे भारतीय अंग्रेजी लेखकों की कृति का अनुवाद प्रकाशित किया है, जिसमें नंदन नीलेकनी, नयनजोत लाहिड़ी, अरुंधति राय की रचनाएँ प्रमुख हैं। पेंगुइन और हार्पर कॉलिंस के अलावा हिन्दी के भी कई प्रकाशकों ने इस दिशा में पहल की है लेकिन उनके ये प्रयास ऊँट के मुँह में जीरा के समान हैं। राजकमल प्रकाशन ने भी विश्व क्लासिक शृंखला में कई बेहतरीन उपन्यासों और किताबों का प्रकाशन किया था लेकिन राजकमल की रफ्तार भी बाद के दिनों में धीमी पड़ गई। राजकमल के अलावा संवाद प्रकाशन, मेरठ ने इस दिशा में उल्लेखनीय योगदान किया है। लेकिन सिर्फ कुछ प्रकाशनों की पहल से इस कमी को पूरा नहीं किया जा सकता है। हालत ये है कि साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखकों या लेखिकाओं की पुस्तकें भी हिन्दी में मुश्किल से मिलती हैं। लेकिन हाल के दिनों में हिन्दी के प्रकाशकों ने अंतरराष्ट्रीय पुस्तक मेलों में अपनी भागीदारी बढ़ाई है और वहाँ जाकर विदेशी भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों के हिन्दी में प्रकाशन अधिकार खरीदने की पहल भी की है। नतीजा ये हुआ कि इधर हिन्दी में भी विश्व की चर्चित कृतियों का प्रकाशन बढ़ा है।

राजकमल प्रकाशन के साथ अब वाणी प्रकाशन ने भी इस दिशा में ठोस और सार्थक पहल की है। इस प्रकाशन से आगामी दिनों में वर्ष 2004 में साहित्य में नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक एल्फ्रीडे येलिनिक की कृति–दि क्लावीयरश्पीलेरिन'–का हिन्दी अनुवाद 'पियानो टीचर' के नाम से छपकर आने को तैयार है। इस कृति का अनुवाद विदेशी भाषा साहित्य की त्रैमासिक पत्रिका 'सार संसार' के मुख्य सम्पादक और जर्मन भाषा के विद्वान अमृत मेहता ने किया है।

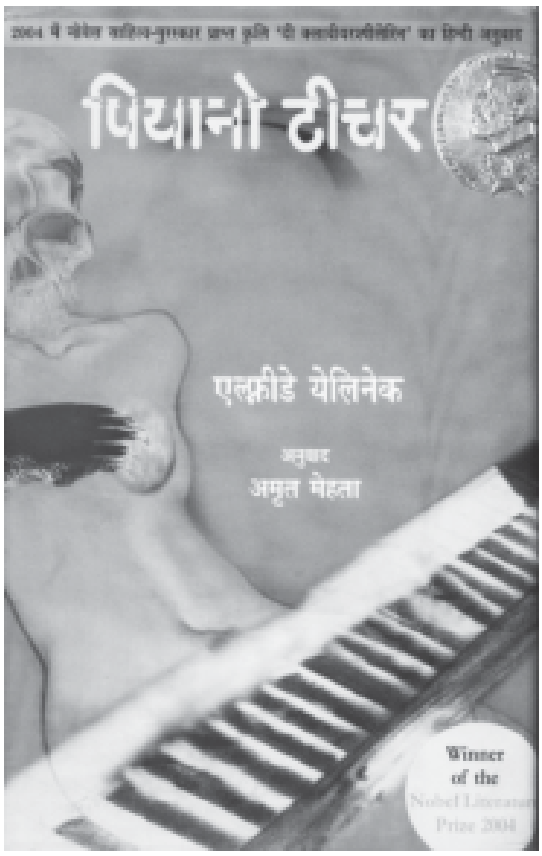

एल्फ्रीडे येलिनिक ऑस्ट्रिया कम्युनिस्ट पार्टी की लगभग डेढ़ दशक तक सदस्य रह चुकी हैं। नब्बे के दशक के शुरूआती वर्षों में येलिनिक की आक्रामकता ने उसे ऑस्ट्रिया की राजनीति में एक नई पहचान दी लेकिन कालांतर में उसका राजनीति से मोहभंग हुआ और वह पूरी तरह से लेखन की ओर मुड़ गई। जब येलिनिक ने लेखन में हाथ आजमाए तो यहाँ भी उसकी भाषा काफी आक्रामक रही। येलिनिक ने लगभग पचास वर्ष पूर्व के विएना के नैतिक और सामाजिक पतन को अपने लेखन का विषय बनाया और उस पर निर्णायक फैसले से अपने को बचाते हुए विपुल लेखन किया। येलिनिक की रचनाओं की थीम और उसमें प्रयोग की जानेवाली भाषा को लेकर आलोचकों ने उस पर जमकर हमले किए। एल्फ्रीडे येलिनिक पर बहुधा यह आरोप लगता रहा है कि उसने ऑस्ट्रिया के समाज में व्याप्त विकृतियों और कुरीतियों को अश्लील भाषा में अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी। दरअसल येलिनिक ने अपने साहित्य में फीमेल सेक्सुअलिटी, फीमेल अब्यूज और विपरीत सेक्स के बीच विमर्श को प्रमुखता से अपने लेखन का केन्द्रीय विषय बनाया। नोबेल पुरस्कार प्राप्त कृति 'पियानो टीचर' में भी येलिनिक ने मानवीय सम्बन्धों में क्रूरता और शक्ति प्रदर्शन के खेल को बेहद ही संजीदगी से उठाया है और बगैर किसी निष्कर्ष पर पहुँचे पाठकों के सामने कई अहम सवालों के विकल्प छोड़ दिया है।

एल्फ्रीडे येलिनिक का यह उपन्यास 'पियानो टीचर' अंग्रेजी में 1988 में प्रकाशित हुआ जिसमें पियानो टीचर

ऐरिका कोहूट के जीवन में कामुकता और हिंसा की गाथा को लेखिका ने बेहद शिद्दत से सामने रखा। तीस साल से ज्यादा की हो चुकी अनब्याही ऐरिका कोहूट अपनी माँ की महत्त्वाकांक्षा की शिकार हो जाती है। सातवें आसमान पर पहुँची माँ की महत्वाकांक्षा अपनी बेटी को कला की बलिवेदी पर बलिदान करने का संकल्प लिए हुए है।

पिता की मृत्यु के पश्चात वह बड़ी हो रही होती है तो उसकी माँ ने अपनी बेटी के आसपास के वातावरण की कंडीशनिंग इस तरह से की कि बेटी को ये लगने लगा कि घर और माँ के अलावा उसकी कोई दुनिया ही नहीं है। उसकी सोच में, उसकी कल्पना में, उसकी इच्छाओं में सिर्फ और सिर्फ माँ हो। बचपन से ही ऐरिका को उसकी माँ पियानो वादन के क्षेत्र में प्रसिद्धि प्राप्त करने की घुट्टी पिलाती रहती थी। उसे बार-बार यह एहसास कराया जाता है कि प्रसिद्धि के लिए अपनी सारी व्यक्तिगत इच्छाओं को दफन कर देना चाहिए। जब वह बच्ची थी और उसकी उम्र के सारे रिश्तेदार स्वीमिंग पूल और अन्य जगहों पर मस्ती करते थे तो उसकी माँ उसे कमरे में बन्द कर रियाज करवाती थीं। लेकिन विएना जैसे शहर में संगीत के क्षेत्र में इतनी ज्यादा प्रतिद्वन्द्विता थी कि तमाम मेहनत और पाबन्दियों के बावजूद ऐरिका सिर्फ संगीत शिक्षिका ही बन पाती है। सारे शहर और आस-पास के लोगों के लिए तो ऐरिका अपनी माँ के लिए एक आदर्श बेटी है जिसने अपनी माँ की खातिर अपना सर्वस्व त्याग दिया है। लेकिन माँ के लिए ऐरिका उसके एकाकी जीवन में एक ऐसे खिलौने की तरह है जिसकी इच्छाओं, आकांक्षाओं और सेक्सुअल डिजायर को कुचलकर वह अपनी बेटी पर अपना निरंकुश नियन्त्रण कायम रखना चाहती है। लेकिन जैसे-जैसे ऐरिका की उम्र बढ़ती जाती है उसकी दमित इच्छाएँ उसके व्यवहार में परिलक्षित होने लगती हैं।

एक दिन जब शाम को वह घर लौटती है और अपने लिए खरीदे कपड़े बेहद उत्साह के साथ अपनी माँ को दिखाती है तब नए कपड़े देखते ही ऐरिका की माँ भड़क जाती है और फिजूलखर्ची पर लम्बा-चौड़ा भाषण पिला देती है। बेटी को बेहद रूखे अन्दाज में कहती है कि कपड़ों पर खर्च करना व्यर्थ है। कपड़ों का फैशन तो हर दिन बदल जाता है और इन चीजों पर खर्च करना फिजूलखर्ची है और ऐरिका को आगे से इसका ध्यान रखने की नसीहत देती है। ऐसी ही सख्ती सेक्स को लेकर उसकी माँ अपनाती है और गाहे-बगाहे उसे लेक्चर देती रहती है। तरह-तरह से समझाती है कि सेक्स बेकार है, इससे भटकाव होता है और यह लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। सेक्स पर माँ द्वारा लगाई पाबन्दी की वजह से वह इस कदर कुण्ठित हो जाती है कि संगीत विद्यालय से लौटते हुए वह अश्लील फिल्में और लाइव सेक्स शो देखना शुरू कर देती है। चोरी-छुपे पार्कों में संभोगरत स्त्री-पुरुषों को देखती है। हस्तमैथुन करते लड़कों को देखने में उसे सर्वाधिक आनन्द की प्राप्ति होने लगती है। लेकिन इन सबको देखकर जब उसके अन्दर की कामेच्छा बेहद प्रबल हो जाती है तो अपने घर के बाथ टब में लेटकर अपने हाथ की नस काटकर अपने को शारीरिक रूप से कष्ट पहुँचाकर सन्तोष का अनुभव करती है। इसके अतिरिक्त लगातार इन पाबन्दियों और नसीहतों से ऐरिका कोहूट के मन में विद्रोह की चिनगारी भी भड़कने लगती है।

ऐरिका का जीवन अजीबोगरीब समझौतों से भरी एक ऐसी लड़की की दास्तान है जहाँ वह अपनी ही माँ की बन्दिशों के वजह से मानसिक रूप से बीमार हो जाती है। इन्हीं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में जी रही ऐरिका को अचानक एक दिन यह एहसास होता है कि उसका एक छात्र क्लेमर उस पर आसक्त है और शारीरिक सम्बन्ध बनाने के लिए प्रयासरत भी है। युवा छात्र क्लेमर अपने से बड़ी उम्र की अपनी शिक्षिका के बंजर शरीर को भोगना चाहता है और अपने व्यवहार और प्रणय निवेदनों से ऐरिका के अन्दर धधक रहे सेक्स के ज्वालामुखी का विस्फोट करवाने में सफलता प्राप्त कर लेता है लेकिन तब तक पाबन्दियों के बीच जी रही ऐरिका के यौवन का इतना हिस्सा निकल चुका होता है कि उसे यह लगने लगता है कि वह उन वजहों से सेक्स नहीं कर सकती जो आम स्त्री पुरुष के बीच शारीरिक सम्बन्ध बनने का कारण होती है। इन मनोभावों के बीच जब वह संभोग के लिए तैयार भी होती है तो उसे लगता है कि वह तो कामेच्छा पर काबू पा सकती है। किसी भी हालत या परिस्थिति में वह बेकाबू नहीं हो सकती है। हर तरह की भावनाओं पर काबू पाना ही इस उपन्यास की सेंट्रल थीम है लेकिन जब उसकी भावनाएँ अपने युवा छात्र का साथ पाकर बेकाबू हो जाती है तो वह क्लेमर को संभोग की सशर्त इजाजत देती हैं। शर्त यह कि सहवास के पहले उसका पुरुष साथी उस पर जमकर शारीरिक अत्याचार करे। पहले उसे बिस्तर से बाँध दे, फिर उसकी जमकर पिटाई करे, जख्मी करे और इन तमाम जुल्मों के साथ फिर सेक्स करे।

बेहद सधे हुए कथानक का यह उपन्यास–'पियानो टीचर'–एक लड़की की भावनाओं और माँ की महत्वाकांक्षाओं की जबरदस्त अभिव्यक्ति है लेकिन नारीवादी आन्दोलन के लोग येलिनिक पर नारीवाद विरोधी होने का आरोप भी लगाते रहे हैं। येलिनिक की नजर में नारी उत्पीड़ित तो है लेकिन इस वजह से लेखिका उसे कोई अहम या अलग दर्जा देने को तैयार नहीं है। अनुवादक अमृत मेहता का दावा है कि पियानो टीचर में पाठकों का परिचय एक ऐसे क्रूर समाज से होगा, जिसमें हिंसा और समर्पण है, शिकारी भी है और शिकार भी। मैं इस दावे को पाठकों के विवेक पर छोड़ता हूँ। लेकिन इस उपन्यास को पढ़ते हुए मैं यह सोचने पर विवश हुआ कि हिन्दी में स्त्री विमर्श का परचम लहराने का दम्भ भरनेवाले लेखक, लेखिकाएँ कब इस तरह की रचनाओं का सृजन कर सकेंगे। जब हमारे यहाँ स्त्री विमर्श की सुगबुगाहट हो रही थी उस वक्त पश्चिम में स्त्री विमर्श की आँधी चल रही थी।

पियानो टीचर/ एल्फ्रीडे येलिनिक/ अनु. अमृत मेहता/ वाणी प्रकाशन, 21-ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : 350.00

321-बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद (उ.प्र.)-201014, मो. 9871697248

एक महान फिल्मकार पर जरूरी किताब

मुकेश कुमार

किसी भी कलाकार की महानता का इससे बड़ा प्रमाण कोई और नहीं हो सकता है कि वह अपनी मृत्यु के बरसों बाद भी एक मिसाल और कसौटी दोनों रूपों में लगातार याद किया जाता रहे। सत्यजित राय के निधन को दो दशक बीत चुके हैं और उनकी पहली फिल्म 'पथेर पांचाली' के प्रदर्शन को पाँच दशक से भी ज्यादा हो गए हैं, मगर भारतीय सिनेमा के विकास पर बात करते समय दोनों की जीवंत उपस्थिति आज भी बराबर महसूस की जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि लोकप्रिय सिनेमा से हटकर एक नए सिनेमा को शुरू करने और भारतीय सिनेमा के कलात्मक कौशल को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने का श्रेय उन्हीं को जाता है। यही नहीं, उनके रूप में विश्व सिनेमा को भी एक ऐसा फिल्मकार मिला जिस पर वह गर्व कर सकता था, जिसे वह चोटी के चन्द ऐसे फिल्म निर्देशकों में शुमार कर सकता था जिसमें फिल्म कला की बारीकियों की गहरी समझ थी और जो फिल्म भाषा को समझकर उसे परदे पर उतारने की असाधारण प्रतिभा भी रखता था। सत्यजित राय एक सम्पूर्ण निर्देशक थे। उन्हें फिल्म के कला और तकनीकी दोनों पक्षों की अच्छी जानकारी थी। साहित्य और संगीत की अच्छी समझ तो थी ही। अपनी इस सम्पूर्णता की वजह से ही वह फिल्म जगत की इतनी प्रभावशाली हस्ती बन पाए। वे बहुत से फिल्मकारों के लिए आदर्श बने। सच तो यह है कि वे अपने आप में एक संस्था थे। उनकी फिल्मों ने फिल्मकारों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार की जो फिल्म को एक माध्यम और कला के लिहाज से ऐसी ऊँचाई पर ले गई जिस पर भारतीय सिनेमा गर्व कर सकता है। उन्होंने भारत में सुप्त पड़ी कला सिनेमा की उस धारा को एक नया वेग दिया जो बाद में बहुत से रूपों में फूली-फली।

आज फिल्म निर्माण का वातावरण पूरी तरह से बदल गया है। भव्यता और तकनीक हावी हो गई है और निर्देशक इन दो कसौटियों पर ही अपनी सफलता को सिद्ध करने में लगे रहते हैं। बाजार के बढ़ते प्रभाव और कई अन्य वजहों से कला और समानान्तर सिनेमा की धारा या तो सूख गई है या लोकप्रिय सिनेमा में गुम हो गई है। फिल्म कला को जीवन से जोड़कर देखने और यथार्थ को फिल्माने की प्रयोगशीलता कहीं नजर नहीं आती। क्षेत्रीय स्तर पर भले ही कुछेक फिल्मकार अभी भी प्रयासरत हैं मगर राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर उनकी उस्थिति या प्रभाव लगभग नहीं है। ऐसे में एक बार फिर सत्यजित राय की विरासत को देखा जाना चाहिए। उनसे प्रेरणा और सबक दोनों लिए जा सकते हैं। इस काम में महेन्द्र मिश्र की किताब 'सत्यजित राय–पथेर पांचाली और फिल्म जगत' काफी मददगार साबित हो सकती है। यह किताब सत्यजित राय की फिल्म-साधना का विस्तृत ब्यौरा ही नहीं देती, बल्कि उनके व्यक्ति के रचनात्मक आयामों पर भी बहुत करीब से रोशनी डालती है।

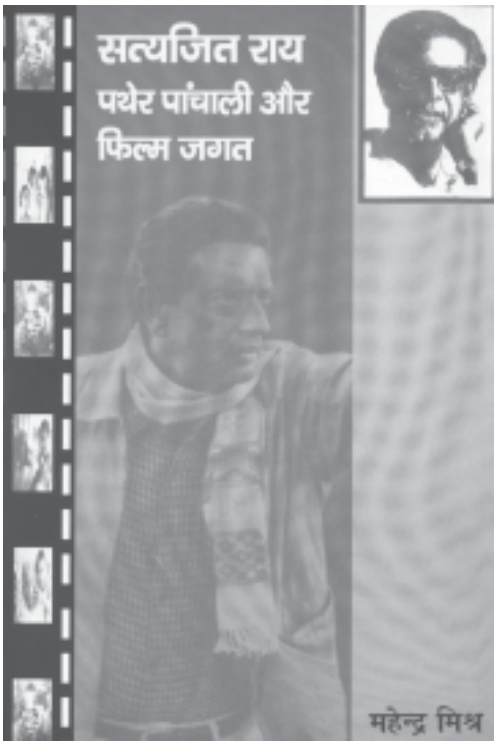

महेन्द्र मिश्र की पुस्तक का अधिकांश भाग फिल्म 'पथेर पांचाली' पर है। सत्यजित राय की यह पहली फिल्म थी और इस पहले प्रयास ने ही उन्हें राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिला दी थी। सत्यजित राय ने 'पथेर पांचाली' के बाद हालाँकि 27 फिल्में और बनाईं, इनमें से ज्यादातर को राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मिले और दर्शकों के बीच लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा भी। मगर 'पथेर पांचाली' मानो उनकी रचनात्मक प्रतिभा का पर्याय बन गई, उनकी पहचान से बावस्ता हो गई। वास्तव में ऐसा होना भी चाहिए था। इसने नई जमीन तोड़ी थी, सम्भावनाओं के नए द्वार खोले थे।

'पथेर पांचाली' गाँव के सीमित, पिछड़े और अभावग्रस्त जीवन की विराट गाथा है। विभूति भूषण बंद्योपाध्याय के उपन्यास पर आधारित इस फिल्म का फिल्मांकन अत्यन्त सादगी से किया गया था, मगर इस सहजता में एक नए तरह की सौन्दर्य और लयात्मकता थी, जिससे फिल्म दर्शकों के

हृदय में सीधे उतर जाती थी। लेकिन इस कम बजट वाली फिल्म के निर्माण के लिए सत्यजित राय को न जाने कितने पापड़ बेलने पड़े। अपनी पत्नी से गहने गिरवी रखने पड़े और कितने ही फायनेंसरों के दरवाजे खटखटाने पड़े। पुस्तक में 'पथेर पांचाली' के निर्माण के दौरान आई मुश्किलों और संघर्ष का दिलचस्प ब्यौरा दिया गया है। मसलन, 'पथेर पांचाली' की पटकथा लिखी ही नहीं गई थी। सत्यजित राय ने लंदन से लौटते वक्त कुछ रेखाचित्र बनाए थे वही फिल्म की शूटिंग के आधार बने। इसी तरह बिना पैसे का इन्तजाम किए उन्होंने कुछ लोगों के साथ मिलकर शूटिंग शुरू कर दी थी और फिर धनाभाव में आठ महीने तक काम रोककर बैठे रहना पड़ा था। पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री विधानचन्द्र राय और सत्यजित राय दोनों का ब्राह्मण होना निर्माण राशि की व्यवस्था में काम आया। लोकेशन एवं पात्रों के चयन की दास्तान भी मजेदार रही। इंदिरा ठाकरुन की भूमिका के लिए चुन्नी बाला को रेड लाइट एरिया से ढूँढ निकाला गया। अड़तालीस घण्टे के अन्दर रविशंकर ने कैसे पूरी फिल्म का संगीत तैयार किया और फिर कैसे दस दिनों के अन्दर सम्पादन सम्पन्न किया गया क्योंकि उसे न्यूयार्क के फिल्म समारोह में भेजना था।

'पथेर पांचाली' के निर्माण की इस कहानी के बारे में सत्यजित राय ने लिखा है–''जब मैं पीछे की तरफ पथेर पांचाली के निर्माण की प्रक्रिया पर नजर डालता हूँ तो मेरी समझ में सचमुच में नहीं आता कि इस संरचना से मुझे पीड़ा अधिक मिली या आनन्द। धन के अभाव में निर्माण के अवरुद्ध हो जाने की यन्त्रणा को शब्दों में बाँधना मुश्किल है। विवश बेकारी और निष्क्रियता के ये दो अन्तराल जो लगभग डेढ़ साल की अवधि समेटे थे, निराशा और विषाद के दिन थे।''

बहरहाल, 'पथेर पांचाली' का संघर्ष काम आया। फिल्म को राष्ट्रीय स्तर पर जबर्दस्त प्रशंसा मिली, जिससे सत्यजित राय की भावी फिल्म यात्रा की राह आसान हो गई। वित्त की व्यवस्था फिर उनके लिए कोई समस्या नहीं रह गई। अगले पाँच साल के

अन्दर उन्होंने 'पथेर पांचाली' त्रयी की दो अन्य फिल्में 'अपराजितो' और 'अपूर संसार' के अलावा 'पारस पाथर', 'जलसाघर' और 'देवी' जैसी महत्त्वपूर्ण फिल्में बना डालीं। सिलसिला कुछ ऐसा चल निकला कि 1991 में प्रदर्शित हुई उनकी अन्तिम फिल्म 'आगंतुक' तक लगभग हर साल सत्यजित राय की एक न एक फिल्म तैयार होती और फिल्मोत्सवों में तो धूम मचाती ही, दर्शकों में भी लोकप्रिय हो जाती। इस यात्रा में थोड़ा व्यवधान उनकी बीमारी की वजह से जरूर आया।

लेखक ने सत्यजित राय की फिल्म-यात्रा का विस्तार से उल्लेख किया है, मगर अच्छी बात यह है कि यह पुस्तक महज घटनाओं का ब्यौरा नहीं है और दस्तावेज बनकर नहीं रह गई है। उसमें ऐसे बहुत सारे प्रसंगों का वर्णन किया गया है जो सत्यजित राय की रचना प्रक्रिया को समझने में मददगार साबित होते हैं। राय ने अपनी ज्यादातर फिल्में साहित्यिक कृतियों के आधार पर बनाई हैं। इनमें दूसरों की लिखी रचनाएँ भी हैं और अपनी भी। लेकिन साहित्यिक कृतियों को सेल्युलाइड पर उतारते वक्त वे पूरी छूट लेते थे। कई प्रसंग छोड़ देते थे और अपनी कल्पनाशक्ति का इस्तेमाल करते हुए कई बार उन्हें बदल देते थे या नए जोड़ देते थे। यहाँ तक कि कुछ फिल्मों के अन्त तक उन्होंने बदल दिए थे। सत्यजित राय की रचना प्रक्रिया और फिल्म-दर्शन को समझने के लिए लेखक ने एक अध्याय अलग से लिखा है। लेखक के अनुसार–''सत्यजित राय पर साहित्य का दूरगामी प्रभाव है, इसलिए उनकी अधिकांश फिल्में वृत्तांतमूलक और वर्णनात्मक हैं...राय के शिल्प का मूल सिद्धान्त है कि फिल्म निर्माण के सभी घटकों का कार्य सम्पादन मूल विषय के वृत्तांत को उसके वास्तविक स्वरूप में चित्रित करने में समर्थ हो।''

फिल्म निर्माण के सभी पक्षों पर निर्देशक का नियन्त्रण सत्यजित राय कितना महत्त्वपूर्ण समझते थे, यह उन्होंने खुद बयान किया है। पुस्तक में सिनेमेटोग्राफी के बारे में राय के विचारों का भी जिक्र किया गया है। राय के मुताबिक, ''छायांकन में कला और सौन्दर्य संवेद को तकनीक और शिल्प से अलग करना आसान नहीं है। छायांकन की शैली तो कहानी से ही निकलनी चाहिए और निर्देशक क्या चाहता है यह बात उसको सम्यक रूप से कैमरामैन को समझा देनी चाहिए। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि निर्देशक स्वयं कैमरामैन हो...फ्लाहर्टी ने अपनी कुछ महानतम फिल्मों में कैमरे का संचालन खुद ही किया...'चारुलता' के निर्माण के समय से मैं खुद ही छायांकन करता हूँ। इसका कारण यह नहीं है कि मैं अपने कैमरामैन की क्षमता पर विश्वास नहीं करता, बल्कि इसलिए कि मैं बराबर सही तौर पर यह जानना चाहता हूँ कि शॉट कैसा बन रहा है।''

जाहिर है कि यह किताब सत्यजित राय के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवरण भर नहीं है बल्कि जैसा कि वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह ने इस किताब के बारे में कहा है–''इस पुस्तक को पढ़ना एक अनुभव समृद्ध विवेकशील गाइड के साथ सत्यजित राय के रंगारंग कला-संसार के उन अनेक कोनों और गलियारों से गुजरना है, जिन्हें बहुतों ने देखा नहीं और जिन्होंने देखा वे लगभग भूल चुके हैं।''

सत्यजित राय, पथेर पांचाली और फिल्म-जगत/ महेन्द्र मिश्र/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-110002

सी-1302, एपेक्स ग्रीन वैली, सेक्टर-9, वैशाली, गाजियाबाद (उ.प्र.)-201102; फो. 981818858

प्रतिध्वनि

पत्र–प्रतिक्रिया

किस तरह एक निरर्थक पत्रिका को सार्थक, पठनीय और संग्रहणीय बनाया जा सकता है– यह कला कोई तुमसे सीखे 'पुस्तक-वार्ता' देखकर।

काशीनाथ सिंह, वाराणसी

'पुस्तक-वार्ता' के सम्पादन के लिए बधाई। विश्वास है आपके सम्पादन में यह एक अलग तरह की एवं अनूठी पत्रिका होगी।

सत्यनारायण, जोधपुर

'पुस्तक-वार्ता' का आपके सम्पादन में निकला तीसरा अंक मिल गया था। पत्रिका एकदम दमदार है।

हृदयेश, शाहजहाँ

पिछले सप्ताह यहाँ एक पुस्तक-विक्रेता के पास 'पुस्तक-वार्ता' का मार्च-अप्रैल अंक मिल गया। आपका नाम देखकर मैं खरीद लाया। पुस्तक-समीक्षा को प्राथमिकता से छापने वाली अब तो यही एकमात्र पत्रिका है शायद। स्तरीयता प्रशंसनीय है। मेरी शुभकामनाएँ। आपका सम्पादकीय ध्यान से पढ़ा। 'प्रकर' के सम्पादक का नाम आपने प्रताप विद्यालंकार लिखा है। मुझे विद्या सागर विद्यालंकार नाम स्मरण है अर्थात् विद्यासागर विद्यालंकार। उनसे भेंट होती रहती थी। एक बार यहाँ मेरे निवास पर भी पधारे थे।

सुरेशचंद्र त्यागी, सहारनपुर

(मेरी इस भूल की ओर संकेत प्रदीप पंतजी ने पत्रिका का मेरे सम्पादन में निकलने वाले दूसरे (मार्च-अप्रैल, 2009) अंक मिलते ही फोन पर किया गया था और तत्काल आगामी अंक के सम्पादकीय में मैंने भूल-सुधार कर दिया था। –सम्पादक)

'पुस्तक-वार्ता' मिली। एक साथ कई विशिष्ट पुस्तकों का अच्छा परिचय मिल जाता है।

सुकीर्ति गुप्ता, कोलकाता

'पुस्तक-वार्ता' के कुशल सम्पादन के लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ। शुरू से ही 'पुस्तक वार्ता' मेरी प्रिय पत्रिकाओं में से एक रही है। आपके सम्पादन में अंक 20 और अब 21 भाई भदौरिया जी की मार्फत प्राप्त हुई। इन दोनों अंकों को पढ़कर आपकी सम्पादकीय समझ एवं सोच, मूल चरित्र के अनुकूल है, दिखी। बधाई। 20वें अंक में 'शेक्सपीयर' और 21वें अंक में 'भारतेन्दु' जी पर सामग्री देकर आपने रंगमंच के प्रति लगाव स्पष्ट किया है। आगे भी यह निरन्तरता बनी रहेगी ऐसी आशा करता हूँ।

'पुस्तक-वार्ता' के माध्यम से 'साहित्य कोलाहल' शीर्षक के अन्तर्गत काफी जानकारियाँ प्राप्त हो रही हैं। इसमें अधिक-से-अधिक जानकारियाँ देने की निरन्तरता बनाए रखेंगे ऐसी आशा है। पुनर्प्रकाशन एवं कुशल सम्पादन हेतु पुनः बधाई।

अनिल रंजन भौमिक, इलाहाबाद

'पुस्तक-वार्ता' का 21वां अंक प्राप्त हुआ। वह भी आपकी देख-रेख में नई जीवनमयी दृष्टि के साथ।

मोहनदास नैमिशराय, सं. 'बयान' नई दिल्ली

'पुस्तक-वार्ता' का 21वां अंक मुझे यहाँ खरीदने के लिए नहीं मिल सका। अंक 22 मई-जून 2009, मैंने खरीदा और पढ़ा। नए और पुराने का सन्तुलन है। पृष्ठ 63 पर आपने बाबा नागार्जुन का जन्मदिन 10 जून 1911 ई. दिया है। 'वागर्थ' जून 2009, पृष्ठ 13 पर नागार्जुन की जन्म 26 जून 1911 ई. छपा है। ना. बाबा का प्रचलित जन्मदिन ज्येष्ठ पूर्णिमा 1911 ई. है। ज्येष्ठ पूर्णिमा 1986 ई. को 75 वर्ष का होने पर ना.बाबा 22 जून, 1986 को जहरीखाल (गढ़वाल) में थे। अब आप पाठकों को बताएँ कि जन्मदिन 10 जून अथवा 26 जून 1911 ई. में से कोई एक सही तारीख क्या है?

वाचस्पति, वाराणसी

*(वाचस्पति जी, आप हिन्दी लेखक कवियों के जन्मदिन को लेकर महीने की तिथियों में उलझे हुए हैं, यहाँ तो वर्षों का चक्कर है। फिर भी नागार्जुन की असली जन्मतिथि कवि के साक्ष्य से 22 जून, 1911 ही पड़ती है, इसे मान लेने में कोई हर्ज नहीं। मेरी भूल-गलती की ओर संकेत करने के लिए आपका हार्दिक आभारी हूँ– **सम्पादक**)*

'पुस्तक-वार्ता' का अंक-22 यथासमय प्राप्त

हुआ। धन्यवाद। यह पत्रिका पहले कैसे निकल रही थी, मुझे पता नहीं, लेकिन यह अंक देखकर लगा कि यह एक जरूरी पत्रिका है। इसमें रमेश उपाध्याय की आत्मकथा का प्रकाशित अंश पढ़कर उनके जीवन और अध्ययन के विकास-क्रम को नए सिरे से जानने का अवसर मिला। शिवदान सिंह चौहान का लेख–'आलोचना क्यों?', द्रोणवीर कोहली द्वारा एमिल जोला के उपन्यास 'जर्मिनल' के अनुवाद पर लिखा आलेख, बिहारबन्धु पर रामनिरंजन परिमलेन्दु का लेख, कुबेरदत्त का चन्द्रकिरण सौनरेक्सा के सम्बन्ध में संस्मरण तथा पुस्तक समीक्षाएँ, सब कुछ महत्त्वपूर्ण लगा।

रामनिहाल गुंजन, बिहार

फिर आपने जोला का अनुवाद क्यों किया?

*('पुस्तकवार्ता'-22 मई-जून 2009 में नेपथ्य स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित एमिल जोला के उपन्यास 'जर्मिनल' का द्रोणवीर कोहली द्वारा किए किए गए हिन्दी अनुवाद 'उम्मीद है, आएगा वह दिन' पर उनके आलेख से असहमत डॉ. मनोज कुमार शुक्ल की लम्बी टिप्पणी के साथ यहाँ द्रोणवीर कोहली का पक्ष भी दिया जा रहा है–***सम्पादक**)*

'पुस्तक-वार्ता' का 22वां अंक (मई-जून 2009) आद्यन्त देखा गया। अच्छा निकल रहा है। बधाई! इस अंक के 'नेपथ्य' स्तम्भ के अन्तर्गत द्रोणवीर कोहली का आलेख 'मैंने जोला का अनुवाद क्यों किया?' प्रकाशित है। इस आलेख के सम्बन्ध में कुछ बातें।

पूरे आलेख को पढ़कर द्रोणवीर कोहली जी की ध्वनि से ऐसा लगता है कि कोहली जी प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने जोला के उपन्यास 'जर्मिनल' का अनुवाद किया है, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं है। जोला के इस विख्यात उपन्यास का काफी पहले 'अंकुर' नाम से अनुवाद एवं प्रकाशन शायद मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद से हो चुका है। हिन्दी में प्रकाशित 'जर्मिनल' के इस अनुवाद की हल्की छाया कोयलांचल पर आधारित शत्रुघ्न सिन्हा की फिल्म 'कालका' पर भी है। यह कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसा होता है कि श्रेष्ठ कृतियों के कई-कई अनुवाद होते हैं। कोहलीजी इस उपन्यास के अनुवाद का कारण बताते हुए लिखते हैं–''लेकिन अचरज होता था कि हमारे देश के कोयलांचलों में इतनी भयावह दुर्घटनाएँ होती रहती थीं, लेकिन मेरी जानकारी में अभी तक न तो किसी हिन्दी लेखक ने और न ही अंग्रेजी में लिखनेवाले किसी भारतीय लेखक ने इस त्रासद स्थिति पर कोई रचना की थी।'' (पुस्तक-वार्ता, मई-जून, 2009, पृ. 43) ऐसा लगता है कि कोहली जी अपने अनुवाद के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए कुछ तथ्यों को अनदेखा कर रहे हैं या अनजान हैं। कोहलीजी की उपरोक्त धारणा सही नहीं है। बांग्ला भाषा में कोयलाचल की समस्याओं पर आधारित स्व. शैलजानन्द मुखोपाध्याय (1901-1976) की चर्चित कहानी 'कोयला कुठी' 1922 में मासिक 'वसुमति' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इन्हीं का उपन्यास 'कोयला कुठीर देश' धारावाहिक रूप में 1956 में मासिक 'वसुमति' पत्रिका में ही प्रकाशित हुआ था। यह उपन्यास 1958 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। शैलजानन्द जी ने कोलियरी की जिन्दगी को काफी करीब से एवं पूरी सहृदयता के साथ देखा था। यहाँ की जिन्दगी को उन्होंने यथार्थपरक ढंग से देखते हुए उसकी खूबियों-खामियों के साथ जीवंतरूप से प्रस्तुत किया था। इनके कोयलांचल के जीवंत चित्रण से बांग्ला के प्रख्यात कथाकार ताराशंकर बंद्योपाध्याय गहरे प्रभावित थे एवं उन्होंने कहा था कि काश! मेरे जनपद वीरभूम (बंगाल का एक जिला) को लेकर भी ऐसी कोई कृति रची जाती।

हिन्दी में कोयलांचल की विभिन्न समस्याओं को उठानेवाले लेखकों की एक लम्बी सूची है संजीव, मनमोहन पाठक, नारायण सिंह, नारायण सिंह समीर, श्याम बिहारी श्यामल, शिवकुमार यादव, विजय शंकर विकुज इत्यादि अनेक लेखक हैं जिन्होंने कोयलांचल की समस्याओं को बार-बार उठाया है।

संजीव ने न केवल अपनी कहानियों में अपितु अपने उपन्यासों–'सावधान! नीचे आग है' (प्रथम संस्करण 1986, राधाकृष्ण प्रकाशन) 'धार' (प्रथम संस्करण 1990, राधाकृष्ण प्रकाशन) एवं 'पाँव तले की दूब' (प्रथम संस्करण 1995 प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली) में कोयलांचल की समस्या को उठाया है। आश्चर्य है, कोहलीजी को इनकी जानकारी नहीं है। यह विश्वास करना मुश्किल हो रहा है। संजीव ने अपने इस उपन्यास त्रयी (Trilogy) में कोयलांचल के भूगोल को, समाजार्थिक इतिहास को, वहाँ पर पर रह रहे विभिन्न समुदायों को, शोषण-दमन-उत्पीड़न के बहुस्तरीय परतों को, उम्मीदों और सपनों को, तिल-तिल कर खप रही जिन्दगी को, क्षण-क्षण टूट रही जीवन की आस एवं साँस को व्यापकता एवं गहराई में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

कोहलीजी पता नहीं क्यों पूरे आलेख में 'सूवारीन' नामक पात्र से खासे नाराज हैं। जोला ने तो अपने इस पात्र के प्रति द्वेष की कोई भावना नहीं रखी थी इसीलिए 'सूवारीन' अपने जीवंत रूप में उपन्यास में उपस्थित हो सका। फिर कोहलीजी की नाराजगी क्यों है? क्या इसलिए कि वह रूस के महान विप्लव से जुड़ा हुआ था? या इसलिए कि उसने जार की ट्रेन को उड़ाने का प्रयास कर सत्ता को चुनौती दी थी। जहाँ तक उसके व्यक्तित्व में मौजूद अराजकता का सवाल है। उससे कई बातों में सहमत नहीं हुआ जा सकता। लेकिन यह तो सही है कि रूस की जनता का चरम शोषण करने वाले जार को उसने चुनौती दी थी। सूवारीन के प्रति कोहलीजी का ऐसा दृष्टिकोण क्यों? सूवारीन का विरोध करते-करते कोहलीजी कब विचारधारा का विरोध करने लगे उन्हें स्वयं पता नहीं चला। वे लिखते हैं–''जोला इतना बड़ा लेखक था। इतना बड़ा थीम उसके हाथ लगा था, लेकिन उसने–हालाँकि जोला ने तब तक मार्क्स को नहीं पढ़ा था–विचारधारा का पलीता लगाकर अपनी इतनी उत्कृष्ट कृति के प्रभाव को नष्ट किया है।'' (पुस्तक-वार्ता, मई-जून 2009, पृ. 45)। कोहली जी जैसे वरिष्ठ एवं विद्वान् रचनाकार जब इस तरह की बात कहते हैं तब चिन्ता होती है। मेरा कोहली जी से सीधा सवाल है कि क्या मार्क्स के पहले विचारधारा नाम की चीज नहीं थी? क्या विचारधारा इतनी गर्हित चीज है, विस्फोटक चीज है कि रचना उससे पूरी तरह नष्ट हो जाती है? विचारधारा से कोहलीजी इस कदर खफा हैं कि वे दुबारा लिखते हैं ''कहना न होगा कि जोला ने इतनी

मर्माहत कर देने वाली अपनी रचना को विचारधारा के फेर में पड़कर उसी तरह नष्ट किया है, जिस तरह लवोरअ कोयला-खान को सूवारीन ने नष्ट किया था।'' (पुस्तक-वार्ता, मई-जून 2009, पृ. 46) विचारधारा के महत्त्व को अस्वीकारने के लिए कोहलीजी ने अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह, मणिशंकर मुखर्जी, शशि देशपाण्डे, फारूख ढोंढी, आक्तोवियो पाज, दतरेसे से लेकर कृष्ण बलदेव वैद तक का उद्धरण पेश किया है। विचारधारा को काटने के लिए इतना परिश्रम! इतने लोगों का प्रमाण!! अब कोहलीजी को क्या कहा जाए? साहित्य और संस्कृति के प्रति अशोक वाजपेयी की जो रुचि है और जो संस्कार हैं उनके केन्द्र में क्या कोई विचारधारा नहीं है? अशोक वाजपेयी दक्षिणपंथी राजनीतिक पार्टियों की खतरनाक साम्प्रदायिकता का कई वर्षों से मुखर विरोध करते रहे हैं। उनके इस विरोध के पीछे क्या कोई विचारधारा नहीं है? कोहलीजी को 'वाद' सम्बन्धी नामवर सिंह की एक वाक्य की पंक्ति याद का गई और 'साखी' पत्रिका के गोदान विशेषांक (अक्टूबर 2008-09, अंक 18-19) में प्रकाशित 'गोदान की विचारधारा' विषयक नामवर सिंह का अठारह पृष्ठों का भाषण याद नहीं आया? नामवर के साहित्य से पचासों ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ उन्होंने विचाराधारा के महत्त्व को (आरोपण को नहीं) स्वीकार किया है। विचारधारा इतनी बुरी चीज नहीं है कि वह रचना को नष्ट कर दे। विचारधारा का आरोपण, प्रगल्भ वर्णन, अनावश्यक घुसपैठ इत्यादि यदि रचना की प्रभावान्विति को क्षतिग्रस्त करता है तो रचना से विचारधारा का निष्कासन रचना को दो कौड़ी का बना देता है। विचारधारा की गुलामी खतरनाक है तो विचारधारा को अस्वीकारना भयानक। कोहलीजी कथाकार हैं। क्या वे कहेंगे कि उनकी रचनाओं में विचारधारा का प्रभाव नहीं है? विचारधारा रचना की रीढ़ हुआ करती है। विचारधारा को रचना में फल में पौष्टिकता की तरह, फूलों में सुगन्ध की तरह घुला-मिला होना चाहिए। आज जब अमेरिकी साम्राज्यवाद समर्थित चिन्तक पूरी दुनिया में डोंडी पीट-पीटकर 'इतिहास का अन्त', 'विचारधारा का अन्त' और पता नहीं क्या-क्या के अन्त की घोषणा कर रहे हैं, विचारधारा के महत्त्व को अस्वीकारते हुए कोहलीजी अन्ततः किसके सुर में सुर मिला रहे हैं? क्या उन्हें पता है कि विचारधारा के अन्त की घोषणा एवं विचारधारा के महत्त्व का अस्वीकार भी एक निश्चित विचारधारा है।

कोहलीजी से मेरा आखिरी सवाल यही है कि जोला ने जब विचारधारा का पलीता लगाकर इस कृति को नष्ट कर ही दिया था तो कोहली जी ने इस नष्ट कृति का अनुवाद क्यों किया? अपने जीवन का मूल्यवान समय क्यों खर्च किया? कोहलीजी माफ करेंगे यदि कभी जोला में, उसकी विचारधारा में एवं उसकी कृति में आपका विश्वास नहीं है तो उसका कारण आपका पूर्वग्रह और चिन्तन है। आप कुछ भी कहें यह तो जोला, उसकी कृति एवं कृति की विचारधारा का जादू ही है जिसने आप से अपना अनुवाद करवा लिया। बावजूद इन असहमतियों के जोला की इस महत्त्वपूर्ण कृति के अनुवाद के लिए उन्हें हार्दिक बधाई।

डॉ. मनोज कुमार शुक्ल, कोलकाता

द्रोणवीर कोहली का स्पष्टीकरण

डॉ. मनोज कुमार शुक्ल का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने मेरे लेख को आलोचनात्मक दृष्टि से आद्योपान्त पढ़ा और उस पर आठ पन्नों की सुविचारित टिप्पणी लिखने का कष्ट किया।

मैं नहीं समझता कि मैंने दावा किया है कि मैंने पहली बार 'जर्मिनल' का अनुवाद किया है। मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ और स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी जानकारी में नहीं था कि इससे पहले इसका अनुवाद हो चुका है। अगर पता भी होता, तो भी मैं अनुवाद करता ही, उसी मंतव्य से, जिसका उल्लेख मैंने अपने लेख में किया है।

यहाँ मैं यह कहना अनुचित नहीं समझता कि हिन्दी में दूसरी भाषाओं की कुछ रचनाओं के अधूरे या अधकचरे अनुवाद हुए हैं–नाम के लिए नहीं, नामा कमाने की गर्ज से। उदाहरण के लिए, इतालियन क्लासिक 'पिनोकियो' के हिन्दी में ढेरों अनुवाद हुए हैं। जो अनुवाद मैंने देखे हैं, वे अति संक्षिप्त और गैर-जिम्मेदाराना लगे। सम्पूर्ण अनुवाद भी हुआ होगा। इसके बावजूद, मैंने अभी-अभी इसका अनुवाद पूरा किया है, स्वांतःसुखाय–उसी मंतव्य से जिस मंतव्य से 'जर्मिनल' का किया। मेरी दृष्टि में दोनों विश्वजनीन और अद्वितीय रचनाएँ हैं।

मुझे खेद है कि मैं मनोज जी के साहित्यिक रचना में विचारधारा के स्थान के विषय में मत का समर्थन करने में अपने आपको असमर्थ पाता हूँ। मेरा विश्वास है कि कोई रचना मतवाद या विचारधारा के आधार पर महान नहीं बन सकती, न ही वह साहित्यिक कोटि में रखी जानी चाहिए। जो रचना स्तालिन के साम्यवाद को (मैं मार्क्सवाद का जि क्र नहीं कर रहा) या भाजपा के हिन्दुत्ववाद को या कांग्रेस के नेहरूवाद को प्रमुखता देती है, वह साहित्य नहीं, प्रचार सामग्री ही मानी जाएगी। यदि ऐसा नहीं, तो कल बिहार में लालू चालीसा के महान रचना मानने में आप गुरेज नहीं करेंगे। जोला के पात्र सूवारीन से मुझे कोई नाराजगी नहीं है। नाराजगी है, तो स्वयं लेखक जोला से, जिसने इस पात्र की विचारधारा के मद्देनजर पता नहीं कितने लोगों को कोयला-खान के भीतर जलसमाधि दिलवाई। सुवारीन को मैं स्तालिन और हिटलर का पर्याय मानता हूँ। इनमें मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। यहाँ यह उल्लेख करने के लिए क्षमा चाहता हूँ कि मेरे उपन्यास 'हवेलियों वाले' की पाण्डुलिपि पढ़कर डॉ. सुधीश पचौरी ने इसलिए इसे अधूरी रचना माना था कि 'इसमें जनवाद नहीं है'। वहीं डॉ. पुष्पपाल सिंह ने इसकी समीक्षा करते हुए इसे उस साल प्रकाशित उल्लेखनीय रचनाओं में छठा स्थान दिया था। इसे आप क्या कहेंगे? भिन्न मतिर्हिलोकः।

मुझे खेद है कि मैं बांग्ला नहीं जानता, नहीं तो उसमें प्रकाशित रचनाओं की सहायता से कोयला-खानों में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली ग्रहण करता। इसी उद्देश्य से मैंने संजीव की कुछ रचनाओं को (जो ईमानदारी से लिखते रहे हैं) और एक-दो अन्य रचनाओं को पढ़ा।

इस सम्बन्ध में हिन्दी फिल्म को बीच में न लाएँ, तो बेहतर है। हिन्दी फिल्में जिन दर्शकों के लिए बनाई जाती हैं उनमें साहित्यिक रचनाओं के साथ जैसा न्याय किया जाता है, उसके बारे में जितना कहा जाए थोड़ा है।

डॉ. द्रोणवीर कोहली, गुड़गाँव

नई पुस्तकें

आलोचना

प्रगतिशील हिंदी आलोचना : विवाद और विमर्श/ *मृत्युंजय सिंह* 200.00
मिथक का काव्यात्मक आख्यान/ *चपले साईंनाथ विट्ठल* 175.00
समकालीन कविता और मार्क्सवाद/ *आशुतोष कुमार* 300.00
कविता का नीलम आकाश/ *कुमार मुकुल* 200.00
'कलिकथा : वाया बाइपास' प्रयोगात्मक संदर्भ/ *रामगोपाल मीणा* 200.00
'बहती गंगा' में काशी/ *वंदना चौबे* 125.00
सृजना और आलोचना/ *सं. डॉ. चंद्रलेखा डिसूजा* 300.00
अंगिका लोक साहित्य/ *रंजन* 150.00

उपन्यास

अतः किम्/ *शिवकरण सिंह* 300.00
मशालची/ *गुरचरण सिंह राओ* 275.00
उलटे आखर/ *तरसेम गुजराल* 250.00
कश्मीर का दर्द/ *सुजाता* 250.00

कहानी

हीरामन अमर्त्य सेन/ *द्वारकेश नेमा* 200.00
धुआं/ *निरंजन श्रोत्रिय* 130.00
यहीं कहीं से/ *शैलेय* 175.00
आशियाना/ *जीवन सिंह ठाकुर* 130.00
समय से बाहर/ *एस. अहमद* 150.00
हनिया तथा अन्य कहानियाँ/ *विवेक मिश्र* 150.00
रोशनी पर अँधेरे/ *राजेश झरपुरे* 175.00

कविता

जिन्हें डर नहीं लगता/ *उमेश चौहान* 175.00
जहाँ धूप आकार लेती है/ *दुर्गा प्रसाद गुप्त* 100.00
पृथ्वी पर एक जगह/ *शिरीष कुमार मौर्य* 250.00
आगे अंधा मोड़ है/ *शिवकरण सिंह* 200.00
होने की सुगंध/ *प्रकाश* 140.00

ग़ज़ल

नवाए-ज़फ़र/ *ख़लीलुर्रहमान आज़मी* 250.00
इंतज़ार है अब तक/ *जितेंद्र त्रिपाठी* 100.00
तन्हा तन्हा/ *रश्मि सानन* 125.00

लघुकथा

अपने-अपने तालिबान/ *आलोक सातपुते* 150.00

व्यंग्य

फक्कड़नामा/ *परितोष चक्रवर्ती* 150.00
एक मुफ्तिया मकान का मास्टर प्लान/ *द्विजेंद्रनाथ सैगल* 175.00
अब तक पैंतीस/ *मोनिका गुप्ता* 140.00

दलित-विमर्श

दलित चेतना : साहित्य/ *संपा. रमणिका गुप्ता* 175.00
दलित दर्शन/ *संपा. ज्ञान सिंह बल-रमणिका गुप्ता* 400.00
दलित लेखन के अंतर्विरोध/ *सं. रामकली सर्राफ* 275.00
आधुनिक भारत में पिछड़ा वर्ग/ *संजीव खुदशाह* 200.00

स्त्री-विमर्श

भक्तिकाव्य में पितृसत्ता और स्त्रीविमर्श/ *शहनाज बानो* 300.00
आधुनिक महिला लेखन/ *सं. रमणिका गुप्ता* 250.00
संघर्ष बनाम सम्भावना/ *डॉ. परिमला अंबेकर* 200.00
स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण/ *संपा. रमणिका गुप्ता-विमल थोराट-अनिता भारती* 300.00

सिनेमा

फिल्म का सौन्दर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा/ *संपा. कमला प्रसाद* 275.00

नाटक

काग के भाग बड़े सजनी/ *शिवचरण विश्वकर्मा* 60.00

यात्रा-संस्मरण

अपना क्षितिज, अपना सूरज/ *सांवरमल सांगानेरिया* 275.00

विविध

कमज़ोर दुनिया का रास्ता/ *संतोष भारतीय* 250.00
वी.पी. सिंह : कैसे पहुँचे वोट की राजनीति तक/ *बच्चन सिंह* 150.00
नजरबंद तसलीमा/ *कृपाशंकर चौबे* 130.00

विस्तृत सूचीपत्र एवं क्रयादेश के लिए हमें पत्र लिखें या ईमेल करें

शिल्पायन

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

फोन : 011-22821174, 9810101036 **ईमेल :** shilpayan2005@yahoo.co.in

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय ने हिन्दी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिन्दी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ **'हिन्दीसमयडॉटकॉम'** नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, सम्पादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। **'हिंदीसमयडॉटकॉम'** में मगांअंहिवि द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिन्दी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिन्दी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिन्दी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिन्दी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत अब तक के प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ 185, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ 194, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृष्ठ 172, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 116, मूल्य 150/-
5. **अज्ञेय संचयिता**, प्रो. नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 496, मूल्य 395/-
6. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 355, मूल्य 325/-
7. **निराला संचयिता**, डॉ. रमेशचंद्र शाह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 431, मूल्य 395/-
8. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 431, मूल्य 395/-
9. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/ रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 275, मूल्य 350/-
10. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 342, मूल्य 395/-
11. **त्रिलोचन संचयिता**, डॉ. ध्रुव शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 536, मूल्य 375/-
12. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 536, मूल्य 375/-
13. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 404, मूल्य 400/-

14. **मैथिलीशरण गुप्त संचयिता**, प्रो. नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 303, मूल्य 275/-
15. **भवानीप्रसाद मिश्र संचयिता**, डॉ. प्रभात त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 450, मूल्य 450/-
16. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 304, मूल्य 250/-
17. **रघुवीर सहाय संचयिता**, डॉ. कृष्ण कुमार, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 274, मूल्य 225/-
18. **श्रीकांत वर्मा संचयिता**, डॉ. नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 399, मूल्य 325/-
19. **नामवर सिंह संचयिता**, डॉ. नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 427, मूल्य 350/-
20. **हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता**, डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 436, मूल्य 400/-
21. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 293, मूल्य 395/-
22. **महादेवी वर्मा संचयिता**, डॉ. निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 434, मूल्य 360/-
23. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 112, मूल्य 150/-
24. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 125, मूल्य 125/-
25. **रामचंद्र शुक्ल संचयिता**, डॉ. रामचंद्र तिवारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 460, मूल्य 500/-
26. **हिन्दी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 370, मूल्य 350/-
27. **उर्दू साहित्य का देवनागरी में लिपीकरण कुछ समस्याएँ, कुछ सुझाव**, डॉ. वागीश शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 110, मूल्य 195/-
28. **कविनायक अज्ञेय**, इला डालमिया कोइराला, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2002, मूल्य 100/-

29. **जैनेंद्र कुमार संचयिता**, ज्योतिष जोशी, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 528, मूल्य 425/-
30. **फणीश्वरनाथ रेणु संचयिता**, डॉ. सुवास कुमार, मेधा बुक्स, दिल्ली, 2002, पृष्ठ 693, मूल्य 590/-
31. **समक्ष : प्रेमचंद की कहानियों का समानान्तर हिन्दी-उर्दू संस्करण**, डॉ. आलोक राय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ 231, मूल्य 375/-
32. **हिन्दी की जनपदीय कविता**, आचार्य विद्यानिवास मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ 727, मूल्य 600/-
33. **पूज्य पिता के सहज सत्य पर**, ध्रुव शुक्ल, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2002, पृष्ठ 80, मूल्य 90/-
34. **हिन्दी साहित्यशास्त्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृष्ठ 280, मूल्य 300/-
35. **सूचीपत्रक** (पोलिश नाटक), तादेउष रूजेविच, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृष्ठ 72, मूल्य 50/-
36. **रोशनी की खिड़कियाँ**, सुरेश सलिल, मेधा बुक्स, दिल्ली, मूल्य 450/-
37. **हिन्दी साहित्य का मौखिक इतिहास** (चार भाग), नीलाभ, वितरक शिल्पायन, दिल्ली, 2005, मूल्य 1000/-
38. **मीरां संचयन**, डॉ. नंद चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2006, मूल्य 175/-
39. **निर्मल विमर्श**, प्रो. जी. गोपीनाथन, डॉ. रामानुज अस्थाना, वि.वि. प्रकाशन, 2007, मूल्य 200/-
40. **तमिल शैव संत सुंदररर् द्वारा विरचित तैवारम्** (सप्तम तिरुमुरै), डॉ. एन. सुंदरम, डॉ. आर. अस्थाना, वि.वि. प्रकाशन, 2007, मूल्य 400/-
41. **पुस्तक और मैं**, प्रो. जी. गोपीनाथन, राकेश श्रीमाल, वि.वि. प्रकाशन, 2008, पृष्ठ 142, मूल्य 60/-
42. **विश्वभाषा हिन्दी की अस्मिता : स्वप्न और यथार्थ**, प्रो. जी. गोपीनाथन, वि.वि. प्रकाशन, 2008, पृष्ठ 119, मूल्य 60/-
43. **तुलनात्मक साहित्य विश्वकोश**, प्रो. जी. गोपीनाथन, वि.वि. प्रकाशन, 2008, पृष्ठ 1350, मूल्य 1700/-
44. **हिन्दी विश्व सम्मेलन** (न्यूयॉर्क), प्रो. जी. गोपीनाथन, वि.वि. प्रकाशन, 2008, मूल्य 300/-

पत्रिकाएँ/जर्नल

1. **'बहुवचन'** (त्रैमासिक पत्रिका), संपादक : श्री राजेंद्र कुमार, अब तक 22 अंक प्रकाशित, मूल्य 50/-
2. **हिन्दी डिस्कोर्स लैंग्वेज राइटिंग**, संपादक : श्रीमती ममता कालिया, अप्रैल-जून 2009, मूल्य 125/-
3. **'पुस्तक-वार्ता'** (द्वैमासिक पत्रिका), संपादक : श्री भारत भारद्वाज, अब तक 22 अंक प्रकाशित, मूल्य 20/-

छवि-संग्रह

(लेखकों/कवियों का रहन-सहन आदि का रंगीन चित्रों के साथ उनका जीवंत परिचय)

1. **निर्मल वर्मा** (वर्ष 2000), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 125/-
2. **कुंवर नारायण** (वर्ष 2001), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
3. **कृष्णा सोबती** (वर्ष 2001), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
4. **भीष्म साहनी** (वर्ष 2001), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
5. **विष्णु प्रभाकर** (वर्ष 2002), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
6. **नेमिचंद्र जैन** (वर्ष 2002), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
7. **मनोहर श्याम जोशी** (वर्ष 2002), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
8. **नामवर सिंह** (वर्ष 2003), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
9. **केदारनाथ सिंह** (वर्ष 2003), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
10. **त्रिलोचन** (वर्ष 2003), छवि-संग्रह - पोर्ट-फोलियो (संचिका), मूल्य 175/-
11. **कविता शती** (प्रख्यात 36 कवियों द्वारा कविता-पाठ का वीडियो सी.डी.), वीडियो सी.डी. बॉक्स पैक सेट-06 (छह) वी.सी.डी. में उपलब्ध, मूल्य 1500/-
12. **कवि पंत** (पोस्टर), कवि सुमित्रानंदन पंत पर पोस्टर, मूल्य 15/-

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय
क्षेत्रीय विस्तार केन्द्र
ई-47/7, ओखला औद्योगिक क्षेत्र, फेज-II, नई दिल्ली-110020
फोन नं. : 011-26387365